प्रकीर्णक-पुस्तकमाला नं० १४

# लंका-विजय

## ( सिंहल-विजय )

मूल लेखक—

स्वर्गीय नाट्याचार्य द्विजेन्द्रलाल राय

अनुवादकर्त्ता—

श्रीयुक्त बाबू रामचंद्र वर्मा

प्रकाशक—

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

ज्येष्ठ, स० १९९२ वि०

जून, १९३५ ई०

मूल्य सवा रुपया

प्रकाशक,
नाथूराम प्रेमी,
हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई

(द्वितीय संस्करण)

मुद्रक,
रघुनाथ दिपाजी देसाई,
न्यू भारत प्रिन्टींग प्रेस,
६, केळेवाड़ी, गिरगाँव, बम्बई

# कालिदास और भवभूति

स्व० द्विजेन्द्रलाल रायका लिखा हुआ यह अपूर्व समालोचन-ग्रन्थ है। इसमें संस्कृतके दो सर्वश्रेष्ठ नाटककार कविकुलगुरु कालिदास और महाकवि भवभूतिके दो नाटकोंकी—अभिज्ञान शाकुन्तल और उत्तररामचरितकी बहुत ही मर्मस्पर्शी और पाण्डित्यपूर्ण समालोचना की गई है। इसमें दोनो नाटकोंके गुण-दोषों, उनके विविध पात्र-पात्रियों और प्राचीन तथा नवीन नाट्य-शास्त्रोंकी विशेषताओंपर खूब प्रकाश डाला गया है। साहित्यके विद्यार्थियोंको अवश्य पढ़ना चाहिए। हिन्दीके सुप्रसिद्ध लेखक आचार्य चतुरसेन शास्त्रीने इसकी १६ पेजकी एक विस्तृत और मार्मिक भूमिका लिखी है। मूल्य १॥)

# वक्तव्य

आज हम अपने पाठकोंके समक्ष स्वर्गीय कविश्रेष्ठ द्विजेन्द्रलाल रायका यह एक और नाटक उपस्थित कर रहे हैं। कविवरकी यह अन्तिम रचना है। इसका पुनरालोचन और संशोधन करते करते ही उन्होंने शरीर-त्याग किया था। उस समय इसकी हस्तलिपिके पन्ने उनकी मृत्यु-शय्याके पास बिखरे हुए पड़े थे।

इसके केवल ( तृतीय अंकके पहले दृश्य और चतुर्थ अंकके द्वितीय दृश्यके ) दो ही गीत ग्रंथकर्ताने अपने हाथसे लिखे थे, शेष गीत उनके एक मित्रने उन्हींकी अन्य रचनाओंमेंसे चुनकर रख दिये हैं। ग्रन्थकर्त्ताकी मृत्युके लगभग डेढ़ वर्ष पश्चात् यह नाटक प्रकाशित हुआ और रंगभूमिपर खेला गया।

इस नाटकके पाँचवें अंकके विषयमें यह चर्चा उठी थी कि वह स्वयं द्विजेन्द्रबाबूकी नहीं, किसी औरकी रचना है, परन्तु द्विजेन्द्रबाबूके सुपुत्र श्रीयुत बाबू दिलीपकुमार राय इस चर्चाको निर्मूल बतलाते हैं और कहते हैं कि "पञ्चम अंककी हस्तलिपि मेरे पास मौजूद है। अवश्य ही पितृदेव इस अङ्ककी पुनरालोचना करनेका समय नहीं पा सके, इस कारण यह अन्यान्य अंकोंके समान सुन्दर नहीं हो सका है।"

यह नाटक पहले तुकान्तहीन पद्योंमें लिखा गया था, परन्तु एक सहृदय मित्रकी यह सम्मति पाकर कि—"आपके गद्यमें जितना 'फोर्स' है, उतना पद्यमें नहीं है"—द्विजेन्द्र बाबूने इसे गद्यमें लिख डाला। परन्तु इसके संशोधन और परिवर्तन करनेका कार्य समाप्त नहीं हो पाया और उन्हें परलोक-यात्रा कर देनी पड़ी। द्विजेन्द्र बाबू अपने अन्य नाटकोंके संशोधन और परिवर्तनमें जितना परिश्रम करते थे, इसके लिए भी यदि उन्हे उतना परिश्रम करनेका अवसर मिलता तो यह और भी अपूर्व हो जाता। फिर भी यह बात दृढतापूर्वक कही जा सकती है कि 'सिंहल-विजय' बंगला-साहित्यकी शोभा है। इसमे भी कविका स्वभावसिद्ध रचना-कौशल प्रकाशमान् है। इसमें भी जगह जगह नाटकोचित चौंका देनेवाली घटनाओंका समावेश है, कवित्त्वका उच्छ्वास है और इसके भी अनेक पात्र एक एक भावुक कवि हैं।

द्विजेन्द्रबाबूने अपने भीष्म-नाटकमें विमाताके चरित्रको बहुत ही कलुषित-रूपमें चित्रित किया है और इसमें उन्होंने एक ही साथ दो कैकेयी लाकर खड़ी

इस नाटकके गीतोंका अनुवाद * हिन्दीके सुकवि श्रीयुक्त प० रामचरित उपाध्यायने कर देनेकी कृपा की है, इसके लिए हम उनके बहुत ही कृतज्ञ हैं।

अपना वक्तव्य समाप्त करनेके पहले हम द्विजेन्द्रबाबूके सुपुत्र श्रीयुत बाबू दिलीपकुमार रायके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करते हैं, जिनकी उदारता और कृपासे हम इस अपूर्व ग्रन्थावलीको प्रकाशित कर रहे हैं।

माघ कृष्णा ५<br>
सं० १९७६ वि०

निवेदक—<br>
**नाथूराम प्रेमी**

---

## सूचना

लगभग पन्द्रह वर्षके बाद इस नाटकका यह दूसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है। ‘ सिंहल ’ नाम विशेष परिचित न होनेके कारण अबकी बार इसको ‘ लंका-विजय ’ नाम देना उचित प्रतीत हुआ। मूलके साथ मिलान करके इस संस्करणमें कुछ संशोधन भी किये गये हैं। १२–६–३५

—प्रकाशक

---

* चतुर्थ अंकके अष्टम दृश्यमें जो गीत और पंचम अंकके अन्तमें जो छप्पय छपा है, वह बाबू रामचन्द्र वर्माका ही बनाया हुआ है।

# नाटक-पात्र

## पुरुष

| | |
|---|---|
| सिहवाहु | बगालके राजा |
| विजयसिह | ज्येष्ठ राजपुत्र ( पहली रानीके ) |
| सुमित्र | कनिष्ठ राजपुत्र ( दूसरी रानीके ) |
| विजित | विजयके मित्र ( राजपुत्र ) |
| उरुवेल<br>अनुरोध | विजयके साथी |
| मंत्री, ब्राह्मण, भैरव डकैत आदि | |
| कालसेन | लकाके नये राजा |
| जयसेन | कालसेनकी पहली स्त्रीका पुत्र |
| उत्पलवर्ण | लकाका पुरोहित |
| विशालाक्ष | लकाका सेनापति |
| विरूपाक्ष, तापस आदि | |

## स्त्री

| | |
|---|---|
| महारानी | सिहवाहुकी दूसरी रानी |
| सुरमा | सिंहवाहुकी पहली रानीकी कन्या |
| लीला | विजयसिंहकी पत्नी |
| वसुमित्रा | लकाकी रानी |
| कुवेणी | वसुमित्राकी कन्या |
| जुमेलिया | कुवेणीकी सखी |
| नर्तकी परिचारिका आदि | |

# लंका-विजय

## प्रथम अंक

### पहला दृश्य

स्थान—बंगालके महाराज सिंहबाहुका न्यायालय

समय—दोपहर

[ महाराज सिंहबाहु सिंहासनपर बैठे हैं। सामने एक ओर विजयसिंह और दूसरी ओर अमात्य लोग, कर्मचारी, एक ब्राह्मण और एक ब्राह्मण-कन्या खड़ी है। ]

सिंहबाहु—पण्डितजी, इस खुले दरबारसे आप मेरे पुत्र विजयके विरुद्ध अपना अभियोग उपस्थित कीजिए।

ब्राह्मण—महाराज, मेरे साथ न्याय-विचार होना चाहिए।

सिंह०—पण्डितजी, आप न्याय-विचारकी बात क्यों कहते हैं? मंत्री, क्या यह बात सारा संसार नहीं जानता कि बंगालके महाराज सिंहबाहु न्याय करनेमें पात्रापात्रका भेद नहीं करते? वे स्वदेशी और विदेशी सबको एकदृष्टिसे देखते हैं।

मंत्री—क्यो पण्डितजी, क्या आप यह बात नहीं जानते कि महाराजका विचार ईश्वरके विधानकी तरह निरपेक्ष होता है ? स्वर्गमे इन्द्रदेव और मर्त्यमे महाराज सिंहबाहु एक दूसरेको देखते है, और परस्पर ईर्ष्या करते है। ब्रह्माण्ड उनके पैरोपर पड़ा हुआ है।

सिंह०—पंडितजी, आप निर्भय होकर राजकुमारके विरुद्ध अभियोग उपस्थित कीजिए। हमारे लिए वह अभियोग चाहे कितना ही अप्रिय क्यो न हो, पर आप जरा भी न हिचकिए।

ब्राह्मण—महाराजके न्याय-विचारका यश सारे संसारमे शुभ्र चॉदनीकी तरह फैला हुआ है। आज उसी न्याय-विचारकी परीक्षा होगी। महाराज—

सिंह०—हॉ हॉ पण्डितजी, कहे चलिए। आप रुक क्यो गए ? डरिए नही, कहे चलिए।

ब्राह्मण—महाराज, आपके बडे लड़के विजयसिंह—

सिंह०—हॉ हॉ कहिए।

ब्रा०—महाराज, यह देश बहुत ही हरा-भरा, धनधान्यपूर्ण, शान्तिमय और समृद्ध है। यह सुखका आवास और शान्तिका लीलास्थल है। और महाराजका दृढ कठोर शासन उसे अपनी गोदमे रखकर उसकी रक्षा करता है। किन्तु—

सिंह०—किन्तु क्या ?

मत्री—पण्डितजी, यह किन्तु क्या ? महाराजके इस शासनमे ‘ किन्तु ’ ‘ परन्तु ’ के लिए स्थान नही है।

ब्रा०—विजयसिंह और उनके साथियोके अत्याचारके कारण अब हम लोगोके लिए इस राज्यमे रहना असम्भव हो गया है। खुले आम राजपथपर चलनेवालोकी सम्पत्ति लूटी जाती है और बेचारे गृहस्थोके घरोमें प्रवेश करके कुलागनाओको कलंकित किया जाता है। अब ये सब

अत्याचार असह्य हो गये हैं। इसीलिए आज विवश होकर मैं महाराजके पास आया हूँ।

मंत्री—पंडितजी, आप जानते है कि यह भारी अभियोग आप किसके विरुद्ध पेश कर रहे हैं?

ब्रा०—हॉ, जानता हूँ। यह अभियोग युवराज विजयसिंहके विरुद्ध है। लेकिन इसके लिए आपने ही मुझे अभी अभय-वचन दिया है।

मंत्री—यदि अभियोग सत्य न हुआ तो—पंडितजी आप जानते है कि बंगालके राजकुमारके विरुद्ध मिथ्या अभियोग उपस्थित करने-वालेके लिए क्या दंड है?

ब्रा०—हाँ, जानता हूँ—प्राणदण्ड।

मंत्री—यह भी जानते हैं कि किस प्रकारका प्राणदण्ड?

ब्रा०—हॉ, जानता हूँ। शरीर कुत्तोंसे नोचवाया जाता है।

मंत्री—लेकिन पण्डितजी, इतना होनेपर भी आप निर्भय होकर अभियोग उपस्थित करनेका साहस करते हैं?

ब्रा०—आपने ही तो अभय-वचन दिया है।

मंत्री—अवश्य—यदि अभियोग सच्चा हो तो।

सिंह०—पण्डितजी, युवराजके विरुद्ध इस अभियोगका कोई प्रमाण भी है?

ब्रा०—हॉ महाराज, है। युवराज जबरदस्ती मेरे घरमे घुस गए, उन्होने मेरी सम्पत्ति लूटी और मेरी युवती कन्याको कलंकित किया।

मंत्री—अवश्य ही, यह बड़ा भारी अपराध है। इसकी पूरी पूरी छान-बीन होनी चाहिए।

सिंह०—वह कन्या कहॉ है?

ब्रा०—यहीं है? हे ईश्वर अपनी कन्याका कलंक मुझे आज लोगोंके सामने प्रकट करना पड़ा! लेकिन जब बंगालके घर-घरमें

यहाँ हाल हो तब—मैं क्या कहूँ महाराज—लज्जा और अपमानसे मेरा सिर झुका जाता है। अब सोचता हूँ कि इस बातको छिपा रखना ही अच्छा था।

सिंह०—विजयसिंह, तुम्हे भी कुछ कहना है?

विजय०—कुछ नहीं।

सिंह०—क्या यह बात ठीक है?

विजय०—नहीं, बिल्कुल झूठ है।

मंत्री—युवराज, आप सच बोले। महाराज अवश्य ही चंचल युवराजके इस उच्छृंखल आचरणको माफ कर देंगे।

विजय०—महाराज, जरा मेरे मुँहकी तरफ देखिए, मैं क्या झूठा मालूम होता हूँ?

सिंह०—बहुतसे पाखंडी—जो बाहरसे बड़े धर्मात्मा जान पड़ते हैं—हत्या तक करते देखे गये हैं।

विजय०—महाराज ठीक कहते हैं।

सिंह०—क्यों विजय, हम क्या ठीक कहते हैं?

विजय०—यही कि बहुतसे लोग धर्म्मात्माका भेस बनाकर हत्या तक करते हैं और बहुतसे लोग न्याय-विचारके नामपर अपनी ईर्ष्या-वृत्तिको भी तृप्त करते हैं।

सिंह०—विजय, तुम्हारा असल मतलब क्या है?

विजय०—महाराज, पहले आप बतलाइए कि आपका असल मतलब क्या है?

सिंह०—हमारा असल मतलब?

विजय०—हाँ महाराज, किस मतलबसे इस सिंहासनपर आज आप न्याय करने बैठे हैं? यदि आप मुझे कारागारमें ही भेजना चाहते हो, तो भेज दीजिए। यह न्यायका स्वाँग रचनेकी क्या जरूरत है?

सिंह०—न्यायका स्वाँग ! विजय, यह तुम क्या कह रहे हो ?

विजय०—क्यों ? इसका समझना तो बहुत कठिन नहीं है। यह तो बहुत ही सरल और सादी बात है ।

सिंह०—तुम क्या कहना चाहते हो ?

विजय०—महाराज, मैं कुछ भी कहना नहीं चाहता। मै जो कुछ कहना चाहता हूँ वह यदि मैं इस स्थानपर कह डालूँ तो राज्यमें जितने पिता हैं वे सब लज्जासे मुँह फेर लेंगे, पुत्र भयसे पीले पड़ जायँगे और यह कृत्रिम न्यायालय बहुत ही छोटा दिखलाई पड़ने लगेगा। महाराज, और वह बात सुनकर सारा संसार ठठाकर हँस पड़ेगा ।

सिंह०—विजयसिंह, तुम यह क्या कह रहे हो ?

विजय०—हाँ महाराज, सारा संसार ठठाकर हँस पड़ेगा और उस विपुल हास्यके ऊँचे शोर-गुलमें जो व्यंगदृष्टि मिली होगी उसके नीचे महाराज बहुत ही छोटे दिखलाई पड़ेंगे। और महाराज...लेकिन नहीं मैं यह बात नहीं कहूँगा। पिता चाहे पुत्रकी मर्यादा न रक्खे परन्तु पुत्र अपने पिताकी मर्यादा अवश्य रक्खेगा। मैं कुछ भी नहीं कहूँगा।

सिंह०—विजयसिंह, क्या तुम पागल हो गये हो ?

विजय०—नहीं, मैं पागल नहीं हुआ हूँ। मुझसे अपराध हुआ है, मुझे प्राण-दण्डकी आज्ञा हो। पिताके मार्गका काँटा दूर हो जाय।

सिंह०—पुत्र यदि पिताके लिए काँटा बन जाय तो इसमें दोष पिताका है या पुत्रका ?

विजय०—पुत्रका। दोष पुत्रका ही है। और विशेषतः ऐसी अवस्थामें जब कि उस पुत्रकी माता न हो, और उसके स्थानपर विमाता आ गई हो। उसमें दोष पुत्रका ही है। सौ बार—

सिंह०—विजयसिंह, यह ब्राह्मण—

विजय०—महाराज, मुझे बचाइए! पिताके दुर्बल अविचारके गूढ़ तत्त्वको प्रकट करनेके लिए मुझे उत्तेजित न कीजिए। नहीं तो पीछे बहुत पछताना पड़ेगा।

सिंह०—किसे पछताना पड़ेगा?

विजय०—दोनोको। मंत्री महाशय, आप ज्ञानी, वृद्ध और सरल प्रकृति है। आपने मुझे पाल-पोसकर मनुष्य बनाया है। आप भी इस अभागे माता-पिता-हीन बालकके विरुद्ध षड्यंत्रमे मिल गये? धिक्!

सिह०—विजय, तुम पितृहीन कैसे हुए? मै तुम्हारा पिता तो मौजूद हूँ।

विजय०—जो पिता अपने पुत्रकी विमाताको अपने घरमे लाकर अपना मनुष्यत्व उसके हाथ बेच देता है, वह उस दिनसे फिर उस पुत्रका पिता नही रह जाता। पिता—महाराज, आप मुझे छेड़ें नहीं।

सिंह०—विजयसिंह, तुम्हारा यह उद्दंडतापूर्ण आचरण देखकर मुझे बहुत दु ख हुआ।

विजय०—महाराज, यह आप क्या कहते है? पिताकी ऑखोमे पुत्रके लिए आँसुओकी धारा देख रहा हूँ। नही महाराज,—आप जो पाप कर रहे है वह प्रकट रूपसे करे। यह स्नेहका ढोग छोड़ दीजिए और आँखे लाल करके क्रोधसे कहिए—"पुत्र, यह तेरा बड़ा भारी अपराध है कि तू मातृविहीन है।" मै अपना अपराध स्वीकार कर लूँगा और पिताका प्राणदंड शिरोधार्य्य कर लूँगा। किन्तु—(धीमे स्वरसे) यह धोखेबाजी—यह पाखण्ड—ओह, असह्य है!

मंत्री—क्या कहा युवराज? महाराजकी धोखेबाजी!

विजय०—मत्री महाशय, मैने यह बात महाराजको सुनानेके लिए नही कही थी। लेकिन आपने वह बात महाराजके कानोतक पहुँचा दी,

यह अच्छा ही किया। महाराज, मै अपना अपराध स्वीकार करता हूँ। दंड दीजिए। यह बीभत्स और कुत्सित दृश्य देखनेसे मुझे छुट्टी दीजिए।

सिंह०—अपराध स्वीकार करते हो?

विजय०—हाँ करता हूँ।

सिंह०—सिपाहियो, युवराजको कारागारमे बन्द कर दो।

विजय०—महाराजकी जय हो।

---

## दूसरा दृश्य

**स्थान**—राज-अन्तःपुर। **समय**—सध्या।

[ राजकन्या सुरमा और विजयसिंहकी पत्नी लीला बातचीत करती हुई आती हैं। ]

लीला—मुझे इस बातका किसी तरह विश्वास नहीं हो सकता कि मेरे स्वामी ऐसा काम कर सकते है।

सुरमा—कैसा काम लीला?

लीला—स्त्रीके ऊपर अत्याचार। वे राज्यमे अशान्ति फैला सकते है, दुष्टोंके ऊपर अत्याचार कर सकते हैं, लेकिन दुर्बलपर कभी हाथ नही छोड़ सकते।

सुरमा—यह तुम किस तरह जानती हो?

लीला—मै अच्छी तरह समझती हूँ।

सुरमा—अभीतक तो उन्होने तुम्हारा मुँह भी नही देखा। तुम्हारा और उनका तो केवल उसी एक दिन सामना हुआ था—

लीला—हाँ, उसी एक दिन सामना हुआ था—

सुरमा—तब तुमने यह कैसे जाना कि वे ऐसा काम नहीं कर सकते?

लीला—उसी एक शुभदृष्टिसे सब जान लिया था।

सुरमा—बस एक ही बार देखकर ?

लीला—हॉ एक बार देखकर। एक ही बार देखकर मैने अपने स्वामीको पहचान लिया था।

सुरमा—पहचान लिया था ?

लीला—हॉ, पहचान लिया था। तुम्हे आश्चर्य क्यो होता है ? क्या तुम यह समझती हो कि वही हम लोगोकी पहली भेट थी ?

सुरमा—तो क्या उससे और पहले भी कभी भेट हुई थी ?

लीला—हॉ, हुई थी।

सुरमा—कब ?

लीला—पूर्व जन्ममे।

सुरमा—लीला, क्या तुम पागल हो गई हो ? पूर्व जन्ममे वे तुम्हारे कौन थे ?

लीला—वे मेरे स्वामी थे।

सुरमा—तुमने तो मुझे अवाक् कर दिया।

लीला—यदि यह बात न होती तो उन्हे देखते ही मै यह कैसे समझ जाती कि वे मेरे ही है, और किसीके नहीं। वह प्रशस्त ललाट, वह उज्वल श्यामवर्ण, वह चौडी छाती, वह गम्भीर दृष्टि। भला इन सबके नीचे कहीं क्षुद्र हृदय छुपा रह सकता है ? प्रकृति अपना निवास-स्थान आप ही ढूँढ़ लेती है।

सुरमा—बापरे, इतना खिंचाव! पर फिर भी उन्होंने दोबारा तुम्हारी ओर नहीं देखा ?

लीला—यह उनका सौभाग्य है।

सुरमा—सौभाग्य ?

लीला—यदि वे एक बार इस तरफ देख ले, तो क्या फिर वे किसी

और तरफ देख सकते हैं ? केवल इन दोनो ऑखोंकी तरफ देखो, फिर तुम्हे कुछ देखनेकी आवश्यकता ही न रह जायगी। जल्दी यह समझना कठिन है कि ये दोनो ऑखें क्या है—मीन हैं, या खंजन हैं, या हरिनी हैं। और फिर यह नाक ! ऐसी नाक कहीं देखी है ? और ( हॅसकर )....आह मै मर गई !

सुरमा—वाह, अपने रूपका इतना गुमान !

लीला—यह तो हुआ रूपका गुमान, और यदि गुणका गुमान करूॅ, तो तुम्हें माल्रम हो जाय कि बात क्या है !

सुरमा—जरा गुणके गुमानका भी नमूना देखूँ।

लीला—हॉ हॉ देखो। पहले तो विद्या—मैं अनायास ही तुम्हे सब कुछ सिखा सकती हूॅ।

सुरमा—हॉ विद्या है, यह तो मै मानती हूॅ।

लीला—मानना ही पड़ेगा और फिर इसके बाद गाना—( स्वर ठीक करके गाती है। )

ठुमरी

मेरी प्यारी वीणे, ऐ प्यारे मम गान।
कोमल स्वरसे व्यथा निकल कर, व्याकुल करती प्राण ॥ मेरी० ॥
एकी कथा सभी तारोंमें, एकी दुख सौ तान।
मिला निराशामें कायरपन, औ हताश-अपमान ॥ मेरी० ॥
जाग सके तो जग जा वीणे, और उच्च कर तान।
प्राण कँपाती मैं गाऊँगी—नये गीत, सच मान ॥ मेरी० ॥
तेरे सुरसे गला मिलाकर, क्रन्दन करूँ महान।
नेत्रोंसे जल मिल कर होवे, मन-दुखका अवसान ॥ मेरी० ॥
जाग सेक तो जग कर वज उठ, ऊँचे शब्द-विधान।
नूतन स्वर गाकर, करना है मेरे साथ मिलान ॥ मेरी० ॥

गलेकी ऐसी आवाज़ और कभी सुनी है ? जैसे कोकिल या वीणाकी आवाज हो और साथ ही साथ दही खानेका-सा शब्द ! इस सुरमें यदि एक बार पुकारूँ—'नाथ', तो न जाने क्या हो जाय !

सुरमा—तुम्हे इतने दिनोंमे भी मै न पहचान सकी ।

लीला—क्यो ?

सुरमा—भइयापर तो इतनी विपत्ति आई है और तुम गाने लग गईं !

लीला—उन्हींके लिए तो मैंने गाया है । नही तो इस समय गानेका और काम ही क्या था ।

सुरमा—तुम्हे कुछ रंज नही होता ?

लीला—नही । मैं जिसकी स्त्री हूँ उसपर कभी विपत्ति आ सकती है ? मै जानती हूँ कि जहाँ मैं उनके पास रहूँ वहाँ उनपर कोई विपत्ति नहीं आ सकती । अपनी शुभेच्छाके कवचसे मैंने उन्हे घेर रक्खा है, उनपर कोई विपत्ति नहीं आ सकती ।

सुरमा—वे तो कारागारमे बन्द हैं !

लीला—छूट जायँगे ।

सुरमा—किस तरह ?

लीला—यह तो नही जानती कि किस तरह, पर वे छूट अवश्य जायँगे । उन्हे कोई पकड़कर नहीं रख सकता ।

सुरमा—क्या कहती हो ?

लीला—मैं जानती हूँ ।

सुरमा—मुँहपर हँसी और आँखमे आँसू ! मेरी समझमें अब भी नहीं आता कि तुम्हारी कौन बात ठीक है और कौन दिल्लगी ।

लीला—उन्हे लोगोंने कारागारमे क्यो बंद कर रक्खा है ? उनका कोई अपराध नही है । और महाराज भी तो उन्हे इतना चाहते हैं । आजतक कभी यह सुना भी नहीं था कि पुत्रको पिता इतना चाहते है ।

सुरमा—तुम जानती हो कि मेरी समझमे क्या आता है ?

लीला—क्या ?

सुरमा—( धीरेसे ) मेरी समझमे यह सब विमाताका षड्यंत्र है।

लीला—क्यो ? उन्होंने तो माताका कोई अपराध नही किया ?

सुरमा—विमाताके सामने पुत्र और कन्या सभी आजन्म अपराधी रहते है—उसमे अपराध करनेकी कोई आवश्यकता नही होती भाभी।

लीला—( सहसा ) तुम उन्हे बचाओगी।

सुरमा—किस तरह ?

लीला—तुम जानती हो कि वे किस तरह बच सकते हैं।

सुरमा—मैं कुछ भी नहीं जानती। मै तो केवल यही समझती हूँ कि यह सब विमाताकी ही कृपा है। भइयाका कोई अपराध नही है।

लीला—मै भी जानती हूँ कि इसमे उनका कोई अपराध नही है। पर हॉ, इस षड्यंत्रसे तुम उन्हे बचा सकती हो।

सुरमा—लो देखो, मॉ आ रही है। चलो उधर चले।

( दोनो जाती हैं। )

[ बात करते हुए रानी और मन्त्रीका प्रवेश ]

रानी—मंत्री, इतने थोड़ेमे छोड़ देना अच्छा नहीं हुआ। कारागार तो स्याहीका दाग है—धोते ही छूट जायगा। महाराजका मिजाज ज्यो ही ठढा पड़ेगा त्यो ही इस कारागारका अन्त हो जायगा। मंत्री, इतने थोडेमे छोड देना अच्छा नही हुआ।

मंत्री—नहीं तो फिर आपको क्या आशा थी ?

रानी—मुझे और क्या आशा थी ? मुझे तो आशा थी कि युवराजको प्राणदण्ड मिलेगा।

मंत्री—प्राणदण्ड ?

रानी—क्यों, सिहिर क्यो उठे ?

मंत्री—पिता अपने पुत्रको प्राणदण्ड देंगे ?

रानी—मंत्री, तुम तो मानो आकाशसे गिर पडे !

मंत्री—क्या आपने यहाँतक सोचा था ?

रानी—इसमे आश्चर्य्य ही क्या है ?

मंत्री—राज्यसे वंचित करके कारागारमें भेजकर भी आपकी तृप्ति नही हुई ?

रानी—नहीं । महाराज क्या सोचते है ?

मंत्री—कभी वे स्नेहसे अधीर हो जाते है, कभी क्रोधसे अन्धे हो जाते है और कभी–

रानी—तो फिर स्नेहको उमडते कितनी देर लगती है ? यह क्रोध तो बादलकी गरज है । क्षण-भरमे इससे मीठे जलकी धारा बरसने लगेगी । समझे ?

मत्री—हॉ समझ गया ।

रानी—फिर भी महाराजने उसे कारागारमे भेजकर बुरा नहीं किया । बहुतसा काम हो चुका है । अब आगे—

मंत्री—अब आगे !

रानी—बाकी थोडासा काम तुम्हे करना होगा ।

मंत्री—मुझे क्या करना होगा ?

रानी—तुम खुद नही समझ सकते ? ऐसा एक कुछ, जो अन्धकार–भारी अन्धकार हो । जिस अन्धकारको हटाकर मनुष्य एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता—वही अन्धकार ।

मंत्री—अन्धकार !

रानी—अब भी नहीं समझे ? जहॉ समस्त प्रतिहिंसाओका, समस्त विनीत प्रार्थनाओका, समस्त विवेचनाओका अन्त हो जाता है। जो फिर हिलता डुलता नही, ऑखे बन्द नहीं करता, हॅसता नही, रोता नहीं ।

मंत्री—आप जरा और स्पष्ट करके कहें।

रानी—स्पष्ट करके कहूँ? यह नही हो सकता। वह काम तो हो सकता है, पर वह बात स्पष्ट नहीं कही जा सकती। उस बातके कहने लगते ही मानो कोई आकर गला दबाने लगता है। पर वह है बहुत ही सहज। उस कामको यदि करने लगो तो हाथ काँपता है, पर करते समय पीछे नही हटा जाता। वह बहुत ही सहज भी है और बहुत ही भयंकर भी। अब भी नहीं समझे?—तुम पुरुष हो?

मंत्री—पुरुषके बापकी भी सामर्थ्य नहीं कि वह स्त्रीके मनकी बात समझे।

रानी—फिर भी तुम लोग राज्य चलाते हो, मंत्रणा देते हो, कानून बनाते हो! आश्चर्य है! अच्छा सुनो, अब स्पष्ट करके कहती हूँ। राजकुमारको कारागारमें ( चारो ओर देखकर ) रातके समय—बस ( छुरी मारनेका इशारा करती है। )

मन्त्री—( आश्चर्यसे ) हत्या!!!

रानी—हैं! चिल्लाते क्यो हो?

मन्त्री—( धीरेसे ) हत्या!

रानी—खूब कहा! गला रुका नही? तुम्हींसे यह हो सकेगा। पुरुषसे जो हो सकता है वह स्त्रीसे नहीं हो सकता। स्त्री शरबतमे विष मिला सकती है, लेकिन उसे प्यासेके मुँहसे नहीं लगा सकती। वह बलिका मंत्र बतला सकती है परन्तु अपने हाथसे बलि नहीं दे सकती। हाँ, तुमसे ही हो सकेगा।

मंत्री—नही महारानी, मुझसे यह न हो सकेगा। मैने आपके सरल दयालु, उदार राजकुमारको षड्यंत्र रचकर कारागारमे भेज दिया है। लेकिन इससे अधिक मुझसे नही हो सकता। मुझे इस कामसे छुट्टी दीजिए।

रानी—नहीं, नही, भला यह भी कहीं हो सकता है ? तुम्हींको यह काम करना पड़ेगा।

मंत्री—नहीं, मुझसे न होगा।

रानी—याद रक्खो—स्त्री स्वयं ही मृदु, लज्जाशीला और अन्त. पुरचारिणी होती है। पुरुष जो कुछ कहता है वही किये जाती है, स्वयं कुछ नही कहती; उसका प्रतिवाद नहीं करती, आँख उठाकर देखती भी नहीं। लेकिन वही स्त्री जब अपना फन उठाती है, तब याद रक्खो वह बड़ी ही भयंकर हो जाती है। तुम्हे मैंने अपना गूढ अभिप्राय बतला दिया है। मैंने तुम्हे इस मंत्रणामे मिलाया है। यदि राजकुमार बच गया तो तुम मरोगे। मेरी हिंसाका बाण कदापि व्यर्थ नहीं जायगा। सावधान ! जब इतनी दूर बढ आए तब थोड़ी दूरके लिए क्यो छोड़ते हो ? और इसके बाद फिर राज्यके तुम्हीं कर्त्ता-धर्त्ता हो जाओगे—यह समझ रखना।

मंत्री—( हाथ जोड़कर ) नहीं नहीं श्रीमती, मै दोहाई देता हूँ। आप मुझे इस महापातकमे लिप्त न करे।

रानी—लड़कोकी तरह रोनेसे छुटकारा नही होगा। तुम्हींको यह काम करना पड़ेगा। सामने राज्य है और पीछे सर्वनाश। दोमेसे एक चुन लो।

मंत्री—राजकुमारकी हत्या करनी होगी ?

रानी—हाँ, करनी होगी।

मंत्री—किस तरह ?

रानी—यह भी बतलाना होगा ? पीछेसे—( छुरी मारनेका इशारा करती है। )

मंत्री—नहीं श्रीमती, मुझसे यह न हो सकेगा। यह बहुत ही भीषण काम है। उनके इस यौवनपूर्ण, परिचित, बलिष्ठ अगसे जो रक्त बहेगा उसे देखना पड़ेगा ? मुझसे यह न हो सकेगा।

रानी—तुम इतने दुर्बल हो ?

मंत्री—आप और कोई ऐसा उपाय बतलाएँ, जो—जो—मुझसे —हो सके ।

रानी—तुम नहीं जानते ?

मंत्री—जानता हूँ ।

रानी—क्या है ? बतलाओ ?

मंत्री—बतला नहीं सकता ।

रानी—अच्छा मत बतलाओ । पर यह तो बतलाओ कि वह तुमसे हो सकेगा ?

मंत्री—हॉ, शायद हो सकेगा ।

रानी—शायद नहीं, ठीक ठीक बतलाओ । हो सकेगा ?

मंत्री—हॉ, हो सकेगा ।

रानी—मनको दृढ करो । कलेजेपर हाथ रखकर कहो, हो सकेगा ?

मंत्री—हॉ, हो सकेगा ।

रानी—शपथ खाते हो ?

मंत्री—हॉ शपथ खाता हूँ ।

रानी—कब ?

मंत्री—आज—नहीं—कल—नहीं—एक सप्ताहका समय दीजिए ।

रानी—मंत्री, समय बडा ही विश्वासघातक होता है ।

मंत्री—विवेचना करनेके लिए ।

रानी—विवेचना मनुष्यको भीरु बनाती है । मामलेको ठंढा नहीं होने देना चाहिए ।

मंत्री—तो यह काम कब करना होगा ?

रानी—आज ही रातको ।

मंत्री—( कुछ इधर उधर करके ) बहुत अच्छा । ( जाता है । )

रानी—विजयको समाप्त करनेके उपरान्त—फिर—यह कौन ? कौन ?

[ सुरमा आती है। ]

सुरमा—मै हूँ, सुरमा।

रानी—तुम सुरमा ? इतनी देर कहाँ थी ? यह क्या! एक टक मेरी ओर देख रही हो! कहाँ थी ?

सुरमा—महलमे ही थी।

रानी—कहाँ ?

सुरमा—अन्तःपुरमे ही।

रानी—कुछ सुना ?

सुरमा—हाँ, सुना है।

रानी—क्या सुना ?

सुरमा—भइयाके लिए प्राणदण्डकी आज्ञा हुई है।

रानी—कौन कहता है ?

सुरमा—तुम्हीने तो कहा है ?

रानी—कहाँ ?—कब ?

सुरमा—माँ, क्या विमाताओको प्रेम नही होता ? स्त्रियाँ स्नेहमयी होती हैं-पर क्या यदि किसी स्त्रीको अपने ही गर्भसे उत्पन्न सन्तान न हो, तो क्या उसे प्रेम नहीं होता ?

रानी—कौन कहता है ?

सुरमा—माँ मुझपर और भइयापर तुम्हारा इतना अधिक क्रोध क्यो है ? हम लोगोने तो तुम्हारा कोई अपराध नही किया।

रानी—कौन कहता है कि तुम लोगोंने अपराध किया है ?

सुरमा—कलकी-सी बात जान पड़ती है जब कि मेरी माँने पिताजीके हाथमे भइयाका और मेरा हाथ पकड़ाकर हँसते हुए मीठे स्वरसे कहा था—"इन लोगोको देखिएगा, अबसे आप ही इन दोनोंकी माँ है।" पिताजी चुप हो रहे। माँने फिर कहा था—"बतलाइए, आप भी मेरी

ही तरह इन लोगोंका ध्यान रक्खेंगे ? आप इस प्रकार इनका ध्यान रखिएगा जिसमें इन्हें यह न मालूम होने पावे कि हमारी माँ नहीं है।" पिताजीने धीरेसे कहा था—" हाँ, ध्यान रक्खूँगा । " उसके बाद माँने एक लम्बी साँस खींची, उनकी दोनों आँखोंसे दो बूँद आँसू निकल आए। उसके बाद—

रानी—सुरमा, तुम रोती क्यों हो ?

सुरमा—माँ, अब भी तुम पूछती हो कि मैं रोती क्यों हूँ ? जानती नहीं ? कभी तुम्हारी भी तो माँ थीं । तुम्हारी माँ भी तो किसी दिन मरी थीं । उस दिनकी बात याद है ?

रानी—कौन कहता है कि तुम्हारी माँ नहीं है ? एक माँ गई, दूसरी माँ आ गई । देखो, मैं ही तुम्हारी माँ हूँ ।

सुरमा—हाँ हाँ, माँ, यही बात कहो । माँ, तुमने बहुत अच्छी बात सुनाई । फिर एक बार यही बात कहो । तुम जी-भरके कहो, मैं जी भरके सुनूँ ।

रानी—सुरमा, जानती हो, महाराज कहाँ है ?

सुरमा—नहीं, नहीं, तुम फिर एक बार वही बात कहो कि— " मैं ही तुम्हारी माँ हूँ । " कहो कि—" उसी माँकी तरह मैं तुम्हें कलेजेसे लगाकर रक्खूँगी । अमंगलकी छाया भी तुम तक नहीं पहुँचने पाएगी ! " कहो, फिरसे कहो । शायद कहते कहते तुम्हारे हृदयका द्वार खुल जाय । सचमुच हमें माँ मिल जायगी और हमें कलेजेसे लगा लेगी । कहो, कहो, माँ, फिर कहो कि—" मैं ही तुम्हारी माँ हूँ । "

रानी—मैं ही तो तुम्हारी माँ हूँ ।

सुरमा—अच्छा, तो फिर मन्त्रीको बुलाओ । भइयाकी हत्या मत करो ।

रानी—यह क्या सुरमा ?

सुरमा—माँ, अचानक तुम्हारे दोनो होठ क्यो सूख गए ? टक-टकी क्यो बँध गई ? मुँह पीला क्यों पड़ गया ? कहो, भइयाकी हत्या नहीं करूँगी। कहो, हत्या नहीं होगी।

रानी—मै—मै—विजयकी—हत्या करूँगी ? कौन कहता है ?

सुरमा—तुम।

रानी—मै ?

सुरमा—अभी तुम मंत्रीसे क्या बाते कर रही थीं ?

रानी—तुमने भी सुना है ?

सुरमा—हॉ सुना है। कुछ बाते मेरे कानमें भी पहुँचीं है।

रानी—तभी ! ( सूखी हँसी हँसकर ) यह मंत्री बड़ा ही चालिया है। राज्य पानेके लिए उसने यह षड्यत्र रचा है। विजयको उसने कारागार भिजवा दिया है और वहीं कारागारमे उसे मार डालना चाहता है। जब मुझे मालूम हुआ तब मैंने उसे बुलाकर धमकाया और शान्त किया।

सुरमा—क्या मत्री ही भइयाकी हत्या करना चाहते है ?

रानी—हॉ।

सुरमा—तो फिर यह बात पिताजीसे क्यो नहीं कह दी ? मै कह दूँगी।

रानी—नहीं, मै ही कहूँगी। मैने हत्याके बड़े भारी षड्यंत्रका पता लगाया है। राजकुमारको—अपने विजयको बचाया है। सुनकर महाराज बहुत प्रसन्न होंगे। मैं उनसे कहूँगी।

सुरमा—अगर तुम न कहोगी तो मै ही कह दूँगी।

रानी—सुरमा, क्या तुम मुझपर सन्देह करती हो ?

सुरमा—हॉ, करती हूँ। मॉ, यह बात मेरे मनमे नहीं बैठती। मै किसी तरह विश्वास नही कर सकती कि मंत्री ही भइयाकी हत्या करेंगे।

उनका इतना बड़ा हौसला नही हो सकता। उन्होने भइयाको पाल-पोसकर बड़ा किया है। वे इतने निर्मोही, इतने क्रूर, इतने पिशाच नहीं हो सकते।

रानी—और क्या मैं हो सकती हूँ ?

सुरमा—हाँ, हो सकती हो। तुम विमाता हो। कैकेयीने रामको वनमे भेजा था। तुम वैसी ही हो सकती हो। विमाता क्या नहीं कर सकती ? तब भी हम लोग तुम्हे 'माँ' कहते हैं। अगर हम लोगोंके साथ प्रेम न करो, तो कमसे कम हत्या भी तो न करो। हम लोगोंको जीने दो। (दोनो हाथ जोड़कर और घुटने टेककर रानीके सामने बैठ जाती है।)

[ सुमित्रका हाथ पकडे हुए महाराज सिंहबाहु आते हैं। ]

सिंह०—सुरमा, यह क्या हो रहा है ?

रानी—सुरमा दिन-पर-दिन वहुत बढ़ी चली जाती है। इतना बढ़ कर बोलती है, इतना अभिमान दिखाती है, इतनी उद्धत—

सिंह०—यही तो देख रहा हूँ।

सुरमा—पिताजी, घुटने टेककर भिक्षा माँगना क्या अभिमानका लक्षण है ?

रानी—इसकी बातचीतका ढँग देखते है ?

सुरमा—पिताजी—

सिंह०—चुप रहो, हम कुछ सुनना नहीं चाहते।

(सुरमा जाती है।)

रानी—देखा—जानेका ढँग देखा ? राजकन्या है, इसीलिए दिन रात विमाताको आँखे दिखाती है। बात सिर्फ यही है कि महा-राजने उसको बहुत सिर चढा रक्खा है। नहीं तो—

सिंह०—अह, इसकी बातपर ध्यान मत दो। देखो, सुमित्रने क्या करतूत की है। आकर देखो।

---

## तीसरा दृश्य
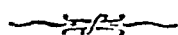
स्थान—लंकाका समुद्रतट। समय—सवेरा।

[ जयसेन और बालक पेडके नीचे बैठे हैं।
बालक गाते हैं। ]

गीत

किससे किसका क्या नाता है?
विमल ग्रीष्मके प्रात समयमें, गान सुरभिमें शोभालयमें।
सब कुछ लीन हुआ जाता है, किससे किसका क्या नाता है?
स्निग्ध सुगन्धित मन्द पवनमें, मंजु कुंजमें भव्य भवनमें।
अरे अधम, तू क्या गाता है? किससे किसका क्या नाता है?
महिमा-उज्ज्वल प्रात-किरण है, शान्त मुग्ध-सा नील गगन है।
पलमें लय भूतल पाता है, किससे किसका क्या नाता है?
अरे! कौन दुख जाग पड़ा है,—किसमें तेरा हृदय गड़ा है?
काँप काँप क्यों भय खाता है? किससे किसका क्या नाता है? ॥

जयसेन—वाह वाह क्या बात है!

पहला बालक—किसकी क्या बात है?

जय०—इसी गानेकी। सुनते सुनते मुझे नींद आने लग गई थी।

प०बा०—नींद आने लग गई थी?

जय०—ऊपर पत्ते हिल रहे थे, समुद्र छप-छप कर रहा था, नीला आकाश अपने पंख फैलाकर पृथ्वी-रूपी अण्डा सेता था और मैं सोचता था—क्या सोचता था?

दू० बा०—क्या सोचते थे?

जय०—याद नहीं आता। सोचता था—या स्वप्न देखता था, सोया था—या जागता था—

दू० बा०—आपको भी नहीं मालूम होता था कि आप क्या कर रहे थे?

जय०—नहीं। अच्छा मीनकेतु, बतलाओ तो सही कि इस समय मै सोया हूँ या जागता?

ती० बा०—आपको क्या मालूम होता है?

जय—एक बार तो यह मालूम होता है कि मै इन पेडोको देख रहा हूँ, तुम लोगोकी बातें सुन रहा हूँ, हवा आकर मेरे शरीरमे लग रही है। अवश्य ही मैं जीता हूँ। लेकिन फिर सब बातें कल्पनामे लीन हो जाती है। कुछ ठीक दिखाई नहीं देता, अच्छी तरह समझमे नही आता, मालूम होता है कि यह सब छाया है, स्वप्न है।

चौ० बा०—आपका दिमाग़ ख़राब हो गया है। इसका ठीक तरहसे इलाज होना चाहिए।

जय०—अच्छा, यदि स्वप्न ही हो तो फिर यह पेड रोज हरा ही क्यों मालूम होता है, आकाश रोज नीला ही क्यो दिखाई देता है, कोयलका गाना नित्य कोयलके गानेकी तरह ही क्यो सुनाई पडता है? कोयल एक दिन भी तोतेकी तरह नहीं गाती, समुद्रका जल एक दिन भी लाल नहीं दिखाई देता, आकाश एक दिन भी–

पह० बा०—आप टक लगाकर ऊपर क्या देख रहे है?

जय०—वह नीला, वह असीम, वह–आश्चर्य।

दू० बा०—आश्चर्य?

जय०—यदि स्वप्न ही हो तो ऐसा जाना-बूझा स्वप्न तो कभी नही देखा!–तो भी कुछ भी समझमें नहीं आता। कुछ भी नहीं पा सकता, मानो सब कुछ ढँक जाता है। ज्यों ही सोचने लगता हूँ त्यो ही सब ढँक जाता है।

[ उत्पलवर्णका प्रवेश। ]

ती० बा०—यह लो, राजपुरोहितजी आ गए।

उत्पल०—क्यो, मालूम होता है कि तुम लोगोको मेरी कुछ आव-श्यकता है ?

चौ० बा०—कहाँ, नही तो ।

उत्पल०—नही, यह नही हो सकता । अवश्य ही तुम लोगोको मेरी कुछ आवश्यकता है । अगर तुम लोगोको मेरी आवश्यकता नही थी तो—मै इधरसे आया ही क्यो ? सोचता सोचता मै और ही तरफ जा सकता था ।

पह० बा०—आप क्या सोचते थे ?

उत्पल०—पूर्वजन्ममे इन्हे देखा था । यह तो नही याद आता कि कहाँ देखा था, पर देखा अवश्य था ।

दू० बा०—यह बात कौन नही मानता ? हम लोग चारो तरफ घूमा करते है । आप भी—

उत्पल०—नही, यहाँ नही, पूर्वजन्ममे । अच्छा ।—याद आ गया । एक दिन सबेरे उठकर मै तमाखू पीता था और तुम लोग—तुम भी तो उन्हींमे थे—तालके किनारे बैठे हुए छिछली खेल रहे थे। क्यों ठीक है न ?

ती० बा०—जी नही ।

उत्पल०—भई, तुम झूठ क्यो बोलते हो ? पूर्वजन्मको सब बाते मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ । तुम्हारे 'नहीं' कह देनेसे क्या होगा !

चौ० बा०—वह लड़का शायद छिछली खेलता था !

उत्पल०—हॉ—

चौ० बा०—जी हॉ, वह मै ही हूँ ।

उत्पल०—तुम ? हॉ, तुम्ही तो थे । ठीक है । याद आ गया । जाड़ेका सबेरा था । ठीक है । कोई डेढ़ पहर—उसी पूर्व-जन्ममे—

चौ० बा०—लेकिन यह बात पूर्व-जन्मकी तो नही है ।

उत्पल०—तब क्या उससे भी पहले जन्मकी ?

चौ० बा०—जी नही। वह तो परसों—

उत्पल०—परसों ? बेटा, झूठ मत बोलो। नहीं तो दूसरे जन्ममे चूहे होओगे।

ती० बा०—जो झूठ बोलता है उसे चूहेका जन्म लेना पड़ता है?

उत्पल—हाँ!

दू० बा०—क्यो पण्डितजी, चूहा क्या बहुत झूठ बोलता है ?

ती० बा०—और सच बोलनेसे क्या छिपकलीका जन्म होता है?

उत्पल०—क्यों, सच बोलनेसे छिपकलीका जन्म क्यों होगा ?

ती० बा०—इसलिए कि जब छिपकिली गिरती है तब माँ 'सत्य सत्य' कहती हैं! *

उत्पल०—क्या तुम दिल्लगी करते हो?

ती० बा०—हाँ पण्डितजी, दिल्लगी करनेसे काहेका जन्म होता है?

चौ० बा०—दिल्लगी करनेसे पतिंगेका जन्म होता है।

ती० बा०—और गाली देनेसे गुबरीलेका जन्म होता है।

दू० बा०—और चिकोटी काटनेसे बिच्छूका जन्म होता है। क्यो पण्डितजी, ठीक है न ?

उत्पल०—( करुणभावसे, सिर झुकाकर ) तुम लोग पूर्वजन्म नहीं मानते?

जयसेन—मै मानता हूँ पण्डितजी।

उत्पल०—देखा ? राजाके लडके हैं न, इसीसे खूब समझते है। राजकुमार, कल मैं तुम्हे लड्डू ला दूँगा। क्योजी, पूर्वजन्ममें तुम मेरे कौन थे?

---

* बगालमें यह प्रथा है कि जब छिपकली गिरती है तब स्त्रियॉ 'सत्यि सत्यि' कहती हैं।—अनुवादक।

दू० बा०—दूसरे ब्याहकी स्त्री। नहीं तो इतना प्यार क्यों होता!

पह० बा०—पण्डितजी, एक बात सुनिए।

उत्पल०—यह तो मैं पहले ही समझता था। कहो, क्या है?

दू० बा०—बात यही है कि ये राजकुमार जो पूर्वजन्ममें आपकी स्त्री थे, इस जन्ममें बिलकुल पागल होकर जनमे हैं?

उत्पल०—पागल होकर?

चौ० बा०—हाँ, आप इसका कुछ उपाय कर सकेंगे?

उत्पल०—इस जन्ममें ये क्या करते हैं?

ती० बा०—बिलकुल हताश होकर बैठे बैठे कुछ सोचा करते हैं।

पाँ० बा०—और लड्डू खाते हैं।

उत्पल०—तब कोई चिन्ताकी बात नहीं है। ब्याह होते ही यह हताश होकर सोचना छूट जायगा। और लड्डू तो खाते ही हैं। मालूम होता है कि अब मेरा काम हो गया। अब मैं जाता हूँ। ( जाते हैं )

पह० बा—पण्डितजीने ठीक कहा। अब आप ब्याह कीजिए।

जय०—ब्याह क्या?

पह० बा०—ब्याह नहीं जानते? ऐसा बोदा राजकुमार तो मैंने देखा ही नहीं। ब्याह नहीं जानते?

जय०—नहीं।

पह० बा०—पुरुष जानते हैं?

जय०—हाँ।

पह०—बा०—बतलाइए तो वे कैसे होते हैं?

जय०—( अपने कपड़े दिखलाकर ) इस तरहके कपड़े पहनते हैं।

पह० बा०—और स्त्रियाँ?

दू० बा०—वे घाघरा पहनती हैं।

( जयसेन इशारेसे उसकी बातका अनुमोदन करता है। )

ती० बा०—इन सब बातोंका आपका ज्ञान तो बहुत बढ़ा चढा है।

जय०—हॉ, ये सब बाते मैंने खूब सीखी हैं।

चौ० बा०—राजकुमार जो हैं! अच्छा, जो लोग ऐसे कपड़े पहनते हैं और जो घाघरा पहनती है, वे दोनो जब अधिक समय तक एक साथ रहते है तब उनमे प्रेम हो जाता है। तब वे आपसमे ब्याह करते है।

जय०—प्रेम क्या ?

चौ० बा०—चाहना !

जय०—चाहना क्या ?

पॉ० बा०—प्रेम।

पह० बा०—समझे ?

जय०—हॉ, समझे।

पह० बा०—अपना सिर समझे। अच्छा किसीको बराबर एकटक देखते रहनेकी भी आपकी इच्छा होती है? उसके साथ सदा बाते करनेकी, उसकी तरफ देखते रहनेकी, उसे छूनेकी इच्छा होती है? ऐसा कोई है?

जय०—हॉं, है ?

पह० बा०—कौन है ?

जय०—वही राजकुमारी।

पॉं० बा०—मार डाला! राजकुमारीके साथ आपका ब्याह हुआ, तो सब कुछ हो चुका।

चौ० बा०—क्यो ?

पॉ० बा०—राजकुमारी कुवेणी? उस ऑधीको ये सॅभाल सकेंगे? उसकी ऑखोंकी बिजली ये बरदाश्त कर सकेगे ?

पह० बा०—राजकुमारीसे ब्याह करनेको आपका जी चाहता है?

जय०—हाँ ।

दू० बा०—तब कोई हर्ज नहीं है । राजाकी पहली स्त्रीका लड़का और रानीके पहले पतिकी लड़की, दोनोमे खूब निपटेगी ।

पह० बा०—तब आपने राजकुमारीसे यह बात कभी कही क्यो नहीं ?

जय०—कौनसी बात ?

पह० बा०—आप उससे यह कह सकेंगे कि हम तुम्हारे साथ ब्याह करेंगे ?

जय०—हाँ, हाँ ।

पह० बा०—अच्छा देखिए, आपके पिताजी आते है । हम लोग जाते है । देर हो गई ।

जय०—तुम लोग क्यो जाओगे ? अभी मत जाओ ।

विहाग

**हम भी क्या खासे वनते है !**
**नृत्य देखकर नच उठते हैं, हँसी देख हँसते हैं ॥ हम० ॥**
**चन्द्र-वदन निज उठा उठाकर गपसटाक करते हैं ।**
**और उसीसे लड्डू पेड़े मधुर वस्तु चखते है ॥ हम० ॥**
**चलना फिरना अनुचित है, यदि निश्चल रह सकते हैं ।**
**उठते नहीं, वैठकर—जीवित—सोकर ही रहते हैं ॥ हम० ॥**

( सब लोग जाते हैं )

[ लंकाके महाराज कालसेन अपनी रानी वसुमित्राके साथ बातें करते हुए आते हैं ।]

वसुमित्रा—मैं समझती हूँ कि राजकुमार जयसेनका दिमाग खराब हो गया है ।

कालसेन—तुम तो ऐसी ही बाते सोचा करती हो। क्या वह पागल है?

वसु०—नही, पागल तो नही है; पर हॉ कुछ झक्की है। टकटकी लगाकर आकाशकी ओर देखता रहता है, गीत सुनते सुनते आँखे बन्द कर लेता है और राजकुमारीकी तरफ एकटक देखता रहता है।

काल०—हॉ, यह तो हमने भी देखा है। कुवेणीपर वह कुछ अनुरक्त जान पड़ता है।

वसु०—आप भी ऐसा ही समझते है? परन्तु वह मुँहसे यह बात कभी कहता क्यों नहीं?

काल०—हम भी यही सोचते है कि वह कुछ कहता क्यो नही! और आज भी उसने मुझसे कुछ क्यो नहीं कहा!

[ दोनो कुछ आगे बढते हैं। ]

काल०—यदि जयसेनके साथ कुवेणीका विवाह हो जाय, तो कैसा हो?

वसु०—मैं भी तो यही सोचती थी। मगर—

काल०—तब अब दोनोका विवाह ही होगा। दिन स्थिर करो।

---

## चौथा दृश्य

**स्थान**—जगलमें डाकुओंका स्थान। **समय**—रात।

( आग जल रही है। डाकू लोग आग सुलगा रहे हैं। )

[ भैरवका प्रवेश। ]

पह० डा०—लो सरदार आ गए। हम लोग भी तैयार बैठे है।

दू० डा०—आज किधर चलना होगा, सरदार?

भैरव—आज कहीं न जाना होगा। आज छुट्टी है।

सब—यह क्यों ?

भै०—डकैती तो रोज ही करते हैं, छुट्टी तो रोज नहीं होती।

ती० डा०—छुट्टी लेकर क्या करेंगे ?

भै०—उसका ध्यान करो। उसको हाथ जोड़ो। उसके पैर पकड़कर रोओ।

चौ० डा०—किसकी बात कहते हो ?

भै०—( ऊपर हाथ उठाकर ) उसकी।

चौ० डा०—वह कौन है ?

भै०—उसका नाम नहीं, उसका रूप नहीं। वह संसारका कुछ नहीं है और सब कुछ है।

प० डा०—पर वह कौन है ?

भै०—यह मुझे नहीं मालूम।

दू० डा०—सरदार तुम्हारा दिमाग़ खराब हो गया है।

भै०—दिमाग जब होता है तब बीच बीचमे वह खराब भी ज़रूर होता है और जिसको दिमाग ही नहीं उसका खराब क्या होगा ?

पह० डा०—आज तुम कैसी बाते कर रहे हो ?

भै०—मैं स्वयं नहीं जानता। देखो, अब मैं डकैती करना छोड़ दूँगा।

सब०—क्यो ?

भै०—छोड़ दूँगा।

दू० डा०—छोड़ दोगे ?

भै०—हाँ छोड़ दूँगा। तुम लोग भी छोड दो। लूटना बहुत बुरा काम है।

चौ० डा०—कौन कहता है बुरा है ?

( भैरव ऊपरकी तरफ इशारा करता है। )

पॉ० डा०—लूटेंगे नहीं तो खायँगे कहाँसे ?

भै०—क्यों ? खेती करेंगे।

ती० डा०—खेती करेंगे! जरा यह दोनो हाथ तो देखो। ये लोहेके दोनो लट्ठ क्या खेती करनेके लिए बने है ? जरा इन दोनों हाथोको देखो।

भै०—बोझ ढोएँगे।

ती० डा०—बोझ ढोती है पीठ, मार खाती है पीठ, इसी लिए पीठ पीछेकी तरफ होती है। दोनो हाथोंके रहते बोझ ढोएँगे ?

भै०—लेकिन यह लूट—

पह० डा०—लूट-मार कौन नहीं करता ? दूकानदार अपने गाहकोंको लूटते है, राजा अपनी प्रजाको लूटता है, आदमी सब जानवरोंको लूटता है और बड़े जानवर अपनेसे छोटे जानवरोको लूटते है। भला दुनियॉमे कौन ऐसा है जो किसीको नहीं लूटता ? जिसकी लाठी उसकी भैस।

भै०—अच्छा जाओ। जरा सोचने दो।

दू० डा०—सरदार, आज किधर चलना होगा ?

भै०—जाओ, सोचने दो।

( डाकू चले जाते हैं। )

भै०—उसने कहा तो ठीक। बहुत ठीक। कौन नही लूटता! जो जबरदस्त होता है वह सबको दबा लेता है। भयसे ही दुनियाका काम चलता है—हाथ पसारनेसे नही। समुद्र हाथ पसारनेसे मोती नही देता; उसके लिए गोता लगाना पड़ता है। खेत हाथ पसारनेसे अनाज नहीं देता, उसे जोतना पड़ता है। क्या लूट-मार करना बुरी बात है ?

कौन कहता है ? यही कहता है। (हृदयपर हाथ मारता हैं।) यहाँसे कोई कहता है कि लूट-मार करना खराब है। रह-रहकर अन्दरसे कौन चकोटता है ? चल हट ! दूर हो !

[ अनुचरोंके साथ सुरमा आती है। ]

भै०—तुम कौन हो ?

सुर०—है ! भैरव भइया—

भै०—कौन ? तुम राजकुमारी हो न ? जरा अच्छी तरह देखो, मै भूलता तो नहीं हूँ !

सुर०—नहीं भैरव भइया, तुम भूलते नही हो। मै सुरमा हूँ।

भै०—सुरमा !—सचमुच ? बहन ! मेरी बहन ! (हाथ बढ़ाकर आगे बढता और फिर पीछे हट जाता है।) नही नही, इस हाथसे तुम्हे नही छुऊँगा। यह हाथ खूनसे रँगा हुआ है।

सुर०—यह क्या भैरव भइया ?

भै०—तुम राजकुमारी और मै डाकू।

सुर०—तुम डाकू हो ?

भै०—डाकू ही नहीं, डाकुओंका सरदार।

सुर०—यह क्या भैरव भइया ? तुम डाकू हो ?

भै०—तुमने क्या समझा था ? क्या तुम समझती थीं कि मै ऋषि हूँ ? वनमे तपस्या करने आया हूँ ? भैरव तुम्हारा पुराना-नौकर है। तुम्हारे बापकी तरह, जिसे क्रोधमें ज्ञान नहीं रहता। तुम्हारे बापको मैं छुरी मारने चला था। तब क्या नौकरी छोड़नेपर एक दिनमे मैं ऋषि हो जाऊँगा ? पर इन बातोको अब जाने दो। यह कहो, तुम यहाँ क्या करने आई ?

सुर०—मै कालीके मन्दिरमे पूजा करने आई थी।

भै०—इस टूटे मन्दिरमे ?

सुर०—हाँ, इसी कालीके मन्दिरमे। इसके बाद तुम्हारी आवाज़ सुनाई पड़ी। बहुत दिनो बाद तुम्हारी आवाज सुनी थी। मुझसे रहा न गया। मैंने सोचा, चलो एकबार तुम्हे देख आऊँ।

भै०—बहुत अच्छा किया बहन। मैंने भी बहुत दिनोसे तुम्हें नहीं देखा था और फिर तुम्हे देखनेसे ही क्या होगा ? तुम्हे गोदमें तो मैं ले ही न सकूँगा।

सुर०—क्यों ?

भै०—इसलिए कि अब मै डाकू हूँ।

सुर०—सचमुच तुम डाकू हो ? नहीं, झूठ बोलते हो।

भै०—ब्रज डकैतका नाम सुना है ?

सुर०—हाँ।

भै०—मैं वही ब्रज डकैत हूँ। चकित होकर क्यो देखने लगी ? बहन, तुम यहाँ पूजा करने क्यो आई थीं ?

सुर०—मै भइयाकी मंगल-कामनासे पूजा करने आई थी।

भै०—क्यों, भइयाको क्या हुआ है ?

सुर०—पिताजीने उन्हें कारागारमें डाल दिया है और माता उन्हें विष खिलाकर मार डालेंगीं। इसी लिए मैं पूजा करने आई हूँ। भैरव भइया, मेरा अब कोई नहीं है। इसी लिए काली माईके पास दौड़ी आई हूँ।

भै०—ओह ! अब समझा। विजयसिंह कारागारमें हैं ?

सुर०—हाँ, भैरव भइया।

भै०—कितने दिनोंसे वे वहाँ हैं ?

सुर०—आज दो दिनसे । आज दोपहरको माँ उन्हे विष देनेकी बातचीत कर रही थी ।

भै०—सुरमा, उसे माँ मत कहो । ऐसे अच्छे शब्दका अपमान मत करो । मारनेवालीको माँ मत कहो । वह विष देगी ?

सुर०—हाँ भैरव भइया ।

भै०—ठीक ही है । माता दूध पिलाती है और विमाता जहर देती है । ठीक ही है ।

सुर०—इसी लिए मै कालीजीकी पूजा करने आई थी । मै यह बात पिताजीसे कहने गई थी, पर उन्होने मुझे डाँट दिया । भैरव भइया, अब मेरा कोई नही है ।

भै०—कोई नही है ?

सुर०—कोई नही भइया ।

भै०—बहन, कोई डर नही है । मै तो हूँ ।—अरे ओ मृत्युंजय!

[ एक डाकू आता है । ]

भै०—सब लोगोको बुलाओ ।

( डाकू जाता है । )

भै०—बहन, मै तो मौजूद हूँ । जबतक मै जीता हूँ तबतक तुम्हारी शैतान माँ विजयसिंहका बाल भी बाँका न कर सकेगी ।

[ सब डाकू आते हैं । ]

डाकू लोग—क्या है सरदार ?

भै०—तुम लोग पूछते थे न कि आज किधर चलना होगा ?

सब—हाँ, सरदार ।

भै०—मैंने ठीक कर लिया है । संध्या समय सब लोग तैयार रहे।

सब—अच्छा ।

[ सब डाकू जाते हैं। ]

भै०—सुरमा, तुम डरती हो ? डरनेकी कोई बात नहीं है। इन लोगोका सरदार मै ही हूँ। बहन, विजयके सम्बधमे भयकी कोई बात नही है। मै उन्हें बचाऊँगा। बचाकर फिर उन्हे तुम्हारे हाथमें दे दूँगा। इसके बाद फिर जब कोई संकट पड़े तब मेरे पास आना। मै तुम्हारे आँसू पोछ दूँगा। जाओ, घर जाओ। डरनेकी कोई बात नही है। जानेसे पहले, आओ, एक बार तुम्हे गोदमे ले लूँ। ( गोदमे लेकर ) मैं तुम्हारा पुराना नौकर हूँ। घरपर वह नागिन आई। मुझसे वहाँ रहा नही गया। शरीरमें बल था। डाकुओंका सरदार हो गया। पर फिर भी बहन, मै तुम्हारा और विजयका वही नौकर हूँ। जब जी चाहे तब मेरे पास आना। तुम्हे रुपया न दे सकूँगा, अच्छा भोजन भी न दे सकूँगा —जो तुम्हे घरपर मिलता है। पर हाँ, आदर-प्यार करूँगा,—जो घरपर तुम्हे नहीं मिलता। चलो, तुम्हे पहुँचा आऊँ।

---

## पाँचवाँ दृश्य

**स्थान**—कारागार। **समय**—रात।

[ हथकड़ी और बेड़ीसे जकड़े हुए विजयसिह बैठे हैं। सामने हाथमें कटोरा लिए हुए मत्री खड़े हैं। पास ही पहरेदार खड़ा है। ]

विजय०—मंत्री महाशय, यह शरबत पीनेके लिए आप बार बार मुझसे अनुरोध क्यो करते हैं ? कहिए तो इसमे आपका कौनसा गूढ़ उद्देश्य है ?

मंत्री—यह क्या कुमार !

विजय०—यह विप तो नही है ?

मंत्री—नहीं नहीं । भला, ऐसा हो सकता है !

विजय०—यदि यह विष नहीं है तो आप इस अभागे कैदीके साथ व्यर्थ अपना समय क्यो नष्ट कर रहे है ? और बतलाइए तो कि बीच बीचमे मुझसे यह शरबत पीनेके लिए क्यो कहते है ? क्या यह सचमुच ही विष है ?

मंत्री—नहीं नहीं । भला ऐसा हो सकता है !

विजय०—हो तो अवश्य सकता है । मै राज्यका कण्टक हूँ, राजमहल-का सॉप हूँ, राजमार्गका खुला हुआ बाघ हूँ । मै पिताका संकट हूँ और आप उनके मंत्री है । तब भला यह क्यो नहीं हो सकता ? ठीक ठीक बतलाइए, क्या यह विष है ?

मंत्री—नहीं, विष नही है ।

विजय०—क्यो मंत्री महाशय, आप बगले क्यो झॉकते है ? मुँह सामने कीजिए । ( हाथ पकड़ लेते है । )

मंत्री—युवराज !

विजय०—निर्भय होकर उत्तर दीजिए । आप अवश्य ही राज्यके योग्य मंत्री है । आप निर्भीक है, बुद्धिमान् है । आप अच्छी तरह राज्य चलावेगे । सामने देखिए । ( हाथ पकड़ते है ) यह बात भूल जाइए कि मै राजकुमार हूँ । यह भूल जाइए कि मै इस देशका भावी राजा हूँ । सिर्फ यही समझिए कि आपने मुझे गोदमे खिलाया है, चूमा है, गले लगाया है ! सिर्फ यही समझिए कि मै पिताके स्नेहसे वंचित हो गया हूँ; सिर्फ यही समझिए कि मेरी मॉ नही है । अब तो बतलाइए, क्या यह विष नहीं है ?

मंत्री—युवराज, आप यह सन्देह क्यो करते है ?

विजय०—( हाथ पकड़कर ) बतलाइए । चौंके आप क्यो ? बत-लाइए, यह विष है ?

मंत्री—नहीं, युवराज।

विजय०—अच्छा तो फिर आप भी इसमेंसे आधा शरवत पीएँ। ( कटोरा मंत्रीके मुँहके पास ले जाते हैं। )

मंत्री—मैं!

विजय०—( कटोरा रखकर ) यह क्या? एकाएक आपका स्वर क्यो भंग हो गया, आपकी दृष्टिसे भय क्यो प्रकट होने लगा, आप कॉपने क्यो लगे? नहीं नहीं, मंत्री महाशय, आप जीते रहिए, दीर्घ-जीवी होइए, निर्विघ्नतापूर्वक महाराजके अनुग्रहका भोग कीजिए। आप क्यो मरने लगे! नहीं, दीजिए, विष दीजिए। मै उसे पीता हूँ। भय काहेका? यदि पिता अपने पुत्रको मारनेके लिए विप भेज सकते हैं और आप जैसे पुराने नौकर वह विप-पात्र मजेमें मेरे होठोतक पहुँचा सकते हैं, तव संसारमें और क्या नहीं हो सकता! हे परमेश्वर!—लेकिन नहीं, मैं किसको बुलाता हूँ? लाइए, विप दीजिए। मत्री महाशय, मैं आपके सामने प्राण देता हूँ। आप यह खवर महाराजके पास ले जाइए, इनाम मिलेगा। उनसे कह दीजिएगा कि अपने जीवनमे मैं उनसे वहुत ही प्रेम करता था, कोई पुत्र अपने पितासे इतना प्रेम नहीं करता। और मरते समय भी उन्हींका नाम—क्या कहूँ, मत्री महाशय—उनकी जय हो। ( कटोरा हाथमे लेकर ) वे राज-राजेश्वर हों। मै यह विष पी लेता हूँ। ( पीना चाहते है। )

मत्री—नहीं, मत पीजिए। ( विजयसिंहके हाथसे जवरदस्ती कटोरा लेकर फेक देते हैं। )

विजय०—है, यह क्या किया!

मत्री—यह विष था।

विजय०—नही, वह अमृत था। पिता यदि अपने पुत्रको विप दे तो वह अमृत है। मै सदासे पितृभक्त हूँ। मैने पिताजीकी बात कभी नही टाली। दूसरा विप लाइए। राजमहलमे विपकी कमी नही है। आप ले आइए, मै राह देखूँगा।

मंत्री—( हाथ जोड़कर ) युवराज, आप मुझे क्षमा करे।

विजय०—आप विप ले आइए। मै आपको क्षमा कर दूँगा। किस भरोसेपर आप पिता और पुत्रके बीचमे पड़ते है? पिताजीकी आज्ञा है—आप विप ले आइए।

मंत्री—युवराज, आप शान्त हो। यह विष महाराजने नही भेजा है। वे इस सम्बन्धमे कुछ भी नहीं जानते।

विजय०—नहीं, यह नही हो सकता।

मंत्री—स्वर्गमे देवता इसके साक्षी है। महाराज क्रोधान्ध अवश्य है–पर क्रूर नही है। क्रोधके समय उन्हे संसारमे कुछ दिखलाई नही पड़ता। पर फिर भी दुष्टता या किसीको कष्ट पहुँचानेकी कामना उन्हे छू तक नहीं गई है। विप उन्होने नही दिया।

विजय०—तब किसने दिया है।

मंत्री—महारानीने।

विजय०—( उद्भ्रान्तभावसे ) और आप?

मंत्री—मै मासके एक टुकड़ेपर लुभाया हुआ कुत्ता हूँ!—मैने मनुष्यत्व बेच दिया है।

विजय०—( भयसे ) हाय! मैंने यह क्या किया!

मंत्री—क्यो, क्या किया?

विजय०—हे स्वर्गके देवताओ! मै महापापी हूँ। मुझे क्षमा कीजिए। मैने पिताजीको दोप दिया, इसके लिए मुझे क्षमा कीजिए। ऐसे पिता–

त्रके स्नेहके कारण आपसे आप स्तनसे निकलनेवाली दूधकी धारके मान—। आकाश फट पड़ेगा। पिताजी ! क्षमा कीजिएगा जो स्वप्नमे ी मैने यह वात सोची कि ऐसा भी हो सकता है। मंत्री महाशय, ह मुझे क्या हो गया था !

मंत्री—नही, नहीं। आप मेरी ओर इस प्रकार न देखे ! मैं आपसे ामा नहीं चाहता। उसके लिए जगह ही मैंने नहीं रक्खी। इस ापका एक ही प्रायश्चित्त है और वह यह—( अपने कलेजेमे कटार ारकर गिर जाते है। )

[ सैनिकोंके साथ महारानीका प्रवेश। ]

रानी—यह क्या किया मूर्ख !

मत्री—भागो, भागो। चली जाओ।

रानी—विना इसे मारे नहीं।—सिपाहियो, इसे मारो।

मंत्री—खबरदार !

रानी—मैं रानी हूँ, मैं आज्ञा देती हूँ, मारो।

मंत्री—( उठनेकी चेष्टा करते हुए फिर गिरकर ) सावधान !

रानी—पत्थरकी मूर्तोंकी तरह क्या खड़े हो ! सिपाहियो, मै आज्ञा देती हूँ, इसे मार डालो !

( सिपाही नगी तलवार लिए विजयसिंहकी ओर बढ़ते हैं। )

विजय०—मेरी हत्या मत करो। पहले मुझे एक बार पिताजीसे मिल लेने दो।—एक बार उनके चरण पकडकर क्षमा मॉगूँगा। एक बार—

रानी—सिपाहियो, आगे बढ़ो।

विजय०—ठहरो, तुम लोग सिपाही हो, जल्लाद नहीं। यदि तुम लोग मुझे मारना चाहते हो, तो पहले मेरे हाथ पैर खोल दो, हाथमे

तलवार दे दो और तब सौ सिपाही मेरे सामने आकर खड़े हो जाओ। युद्धमे मारो । हत्या मत करो, मुझे खोल दो ।

रानी—तुम अपराधी हो. विचारके बन्धनसे तुम्हारे हाथ-पैर कौन खोल सकता है ? तुम अपराधी हो, दण्ड सहो। मै तुम्हे प्राणदण्ड देती हूँ ।

[ सुरमा आती है। ]

सुर०—तुम दण्ड देनेवाली कौन होती हो ?

रानी—मैं महारानी हूँ ।

सुर०—न्याय-विचार वह करता है. जो राजा होता है ।

रानी—हट जाओ ।

सुर०—नही, मै भइयाकी हत्या नही होने दूँगी। यदि तुम रानी हो, तो मै भी राजकन्या हूँ ।

रानी—यह काहेका शब्द है ?—सिपाहियो, यदि मेरी आज्ञा नही मानोगे तो—(फिर शोर होता है)—मुझे जानते हो—ह ! यह काहेका शब्द है ? वध करो । वध करो ।

( नेपथ्यमे कोलाहल होता है । )

सुर०—( तलवार निकालकर ) सिपाहियो, बिना मुझे मारे तुम लोग भइयाको नही मार सकोगे।—अरे, यह तो भैरवकी आवाज़ है । तो अब कोई डर नही ।

रानी—तो फिर मुझे ही यह काम करना पडा ।- लाओ, मुझे तलवार दो । ( आगे बढ़ती है । )

सुरमा—अब डर नही है भइया—भैरव, भैरव ! इधर, इधर !

[ डाकुओंके साथ भैरव आता है । ]

भै०—कौन ?—यह तो रानी है !

रानी—भैरव !

भै०—हाँ। इन लोगोंने भइयाके हाथ-पैर बाँध दिये है, खोल दो।

( डाकू हथकड़ी-बेड़ी खोलना चाहते हैं। )

भै०—सिपाहियो, खबरदार। एक कदम भी आगे बढ़े कि गए। ब्रज डकैतका नाम सुना है ? मैं वही ब्रज डकैत हूँ । सीधी तरहसे खड़े रहो।

रानी—तुम डाकू यहाँ क्यों आए ?

भै०—डरो मत रानी, मै किसीका कुछ लूटने नही आया हूँ। मैंने नौकरी छोडकर डकैती शुरू की है। पर याद रखना, सुरमा और विजयका मै वही भाई हूँ। आओ बहन ! आओ भइया ! मेरे साथ चलो, कोई डर नहीं है।

( रानी और सिपाहियोंको छोड़कर सबका प्रस्थान )

# दूसरा अंक

## पहला दृश्य

**स्थान**—श्यामदेशके राजमहलका आँगन । **समय**—सवेरा ।

[ विजय, भैरव और डाकू । ]

विजय०—भाइयो, तुम लोगोने मुझे छुड़ाया है । तुम लोगोकी सहायतासे मैने श्याम जीता है । अब तुम लोग देश लौट जाओ । भैरव, जाओ । इन लोगोको देश लेते जाओ ।

भै०—क्यों, देश क्यो जाऊँ ?

विजय०—तुम लोग यहाँ क्या करोगे ?

भै०—हम जो चाहें सो करे, आपको इससे मतलब ?

विजय०—देश लौट जाओ ।

भै०—आपके कहनेसे ?

विजय०—तब क्या देश छोड़कर मेरे साथ विदेशमे घूमोगे ?

भै०—हमारी खुशी, इसमें आपका क्या ?

विजय०—अब तुम लोगोकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है ।

भै०—खूब कहा, अब हम लोगोकी जरूरत क्यो होने लगी ? क्या हम लोग फटे हुए जूते है जो पुराने होते ही फेंक दिए जायँगे ? अब हम लोगोकी जरूरत नहीं है ! कृतघ्न कहींके ! महाराजने अपनी खुशीसे नही, बाध्य होकर आपको मारकर निकाल दिया है । अच्छा ही किया है !

विजय०—मैं भी यही समझता हूँ ।

भै०—आप क्या समझते है ?

विजय०—भैरव, पहले मै कभी देशसे वाहर नहीं निकला था। इससे मुझे माल्म नही होता था कि देश क्या चीज है। पहले मैं समझता था कि देश केवल पृथ्वी और आकाश ही है। पर अव माल्म होता है कि जन्मभूमि भी एक मनुष्य है। वह वोलती है, हॅसती है, रोती है, गलेसे लगा लेती है। वल्कि इससे भी बढकर जन्मभूमि साक्षात् मॉ है, वह गर्भमे धारण करती है, स्तन पिलाती है, गोदमे रखती है। सो तुम लोगोंने मेरे लिये ऐसा देश छोड़ दिया है। भैरव, देश लौट जाओ।

भै०—अच्छा, तो फिर आप भी चलिए।

विजय०—देशमें मेरे लिए जगह नहीं है। देशके राजा मुझसे विमुख है।

भै०—आप हमारे राजकुमार है। हम लोग आपको राजा बनाऍगे। सोचते क्या है? हम हजार डाकू आपके लिए प्राण देगे। क्यो भई, तुम लोग क्या कहते हो?

डाकू—हम लोग युवराजके लिए प्राण देगे।

विजय०—नहीं भैरव, यह कैसी बात करते हो! देश लौट जाओ।

भै०—देश लौट जायॅगे, पर आपको भी साथ लिये जाऍगे। आपको राजा वनाऍगे। इसके वाद अगर आपका जी चाहे, तो आप हम लोगोंको डाकू समझकर घृणासे छोड दीजिएगा, हम लोग चले जाऍगे। इससे पहले नही। क्यो भई, तुम लोग क्या कहते हो?

डाकू—हॉ, इससे पहले नहीं।

विजय०—किन्तु—

भै०—आप व्यर्थ वातें क्यों करते हैं? आपकी माता नहीं है, पिता नहीं हैं। है एक पुराना नौकर। लेकिन उसके शरीरमें वल है, मनमे

तेज है और हृदयमे प्रेम है—वह प्रेम आपके हृदयमे नही है। वह नौकर अवश्य है, पर मनुष्य है।

विजय०—किन्तु भैरव—

भै०—मै और कुछ भी सुनना नही चाहता। सब सुन चुका। हम लोग आपको नही छोड़ेगे। बस! बस! चलो! सब लोग चलो।

( डाकुओंके साथ प्रस्थान )

विजय०—इतना स्नेह! एक पुराना नौकर, उसका इतना स्नेह! और मेरे पिता!—छोड़ो, अब उस बातका ध्यान नही करूँगा, नही तो पागल हो जाऊँगा। ( इधर उधर टहलते है। )

[ विजितका प्रवेश ]

विजित—यह तो विजय है। यहाँ अकेले क्या करते है?—है! आँखोमे जल क्यो भरा है?

विजय०—नही, कुछ नही।

विजित—सेना तैयार है। आप तैयार हैं?

विजय०—भइया विजित, मुझे जरूरत नही है। मैने अच्छी तरह सोच लिया। मुझे कोई जरूरत नही है।

विजित—किस बातकी जरूरत नही है?

विजय०—पिताजीके साथ युद्ध करनेकी। जो हो, फिर भी वे पिता ही है।

विजित—पिता? युवराज, कैसे आश्चर्य्यकी बात है! पिता भी कभी पुत्रके शत्रु होते है? जिस पिताका कर्त्तव्य अपने पुत्रको मनुष्य बनाना है, जिस पिताका कर्त्तव्य अपने पुत्रके भविष्यके लिए सुख, शान्ति और स्वाधीनता आदिकी बलि दे देना है, वही पिता लड़केके विरुद्ध खड़ा हो? भला यह कितनी अस्वाभाविक बात है!

विजय०—पिताजीका स्वभाव ही ऐसा है। कभी तो वे मुझे पलभर भी न देखनेके कारण व्याकुल हो जाते है और कभी वे बिलकुल ऑधीका रूप धारण कर लेते हैं। और फिर थोड़ी देर बाद ही वर्षाके समान स्नेह बरसाने लगते है। उनका स्वभाव ही ऐसा है।

विजित—लेकिन पुत्रके विरुद्ध—

विजय०—नहीं नहीं, वे कभी पुत्रके विरुद्ध नहीं है। विजयका नाम सुनते ही वे पागल हो जाते हैं।

विजित—लेकिन फिर भी कारागारमे—

विजय०—विमाताने उन्हे ऐसा कर दिया है। विजित, वे स्वयं कभी ऐसे नही है।

विजित—लेकिन उसी विमाताके जालसे उन्हें छुड़ानेके लिए ही तो यह युद्ध है।

विजय०—पिताको यह अधिकार है कि अपनी सन्तानको दण्ड दे। परन्तु पिताको दण्डित करनेका अधिकार—

विजित—लेकिन यह तो दण्ड देना नही है। यह तो पिताजीको बचाना, उन्हे व्याधिसे मुक्त करना है। यह तो पूर्ण चन्द्रमाका राहुके ग्राससे उद्धार करना है।

विजय०—उन्हे क्रोध आ गया था। उनका अपने ऊपर अधिकार नही रह गया था। इसीलिए, नही तो वे स्नेहवान् है—बड़े ही स्नेहवान् है।

विजित—यह हो सकता है।

विजय०—हो सकता है नहीं भइया, यही बात ठीक है। एक दिन मैने अभिमानके कारण भोजन नहीं किया था। महलसे निकलकर नदीके किनारे एक देवदारके पेडके नीचे जा बैठा था। चुपचाप नदीकी तरंगे देख रहा था, आकाशमे बगुले उड़ रहे थे, सूर्य्यकी किरणे नदीके जलपर नाच

रही थी, पर्वत दूर खड़े पहरा दे रहे थे और मै निहार निहार कर यह सब देख रहा था। अचानक पीछेसे मेरे ऊपर एक कोमल हाथ पड़ा। वह हाथ पिताजीका था। उन्होने प्रेमपूर्वक मेरा मुँह चूम लिया। वही पिताजीका प्रेमपूर्ण चुम्बन था। मैने उलटकर देखा। मैने अभिमान-कम्पित स्वरसे पुकारा—"पिताजी।" पिताजीने मुझे जोरसे दबाकर कहा—"विजय, लौट चलो। मैने जो कुछ कहा था अनुचित था। चलो, लौट चलो।" फिर मुझसे क्यो कर रहा जाता! मै रो पड़ा। पिताजी भी रोने लगे। उस समय—उस समुद्रतटपर, उस दोपहरको, उस देवदारकी छायामे—क्या कहूँ विजित, मालूम होता था कि हम दोनो पिता-पुत्र नहीं हैं—भाई भाई हैं; एक साथ खेलनेवाले है, खेलका झगड़ा निपटाने बैठे है। उस मिले हुए अश्रुजलसे हम लोगोका विच्छेद—

विजित—अब उन सब बातोको याद करनेसे क्या होगा! मै युद्धके लिए निकला हूँ; युद्ध करके तब ये सब बाते सुनूँगा।

विजय०—सुनो विजित!

विजित—नहीं, अभी सुननेकी फ़ुरसत नहीं है।

[ एक आदमी आता है। ]

विजय०—आप बंगालके रहनेवाले है?

पह० आ०—हाँ, मै बंगालका रहनेवाला हूँ। और आप? क्या आप भी बंगालके रहनेवाले है?

विजय०—हाँ, मै भी बंगालका रहनेवाला हूँ। आप सिंहपुरमें रहते हैं?

पह० आ०—जी नही, मै राजधानीमे नहीं रहता। मेरा मकान नवद्वीपमे है।

विजय०—महाराज कैसे है?

पह० आ०—अच्छे है।

विजय०—और राजकुमार ?

पह० आ०—वे राज्यसे निकाल दिए गए है ।

विजय०—निकाले नही गए है । बड़े राजकुमार विद्रोही है और छोटे राजकुमार ?—युवराज ?

पह० आ०—उनका हाल मुझे मालूम नही । ( प्रस्थान )

विजय—विदेशमे अपने देशके आदमीका मुँह कितना प्यारा मालूम होता है !—जिससे मै कभी वात करना भी पसन्द नही करता था उसीको बुलाकर वाते करता हूँ। उसकी एक एक वातमे कितना कवित्व, कितना संगीत और कितना अर्थ है !

[ दूसरा आदमी आता है । ]

विजय०—क्यो महाशय, आप बंगालके रहनेवाले है ?

दू० आ०—जी हॉ ।

विजय०—आप कहॉ रहते है ?

दू० आ०—सिंहपुर ।

विजय०—महाराजका कुछ हाल जानते है ?

दू० आ०—हॉ जानता हूँ ।

विजय—वे अच्छे तो है ?

दू० आ०—देखनेमे तो अच्छे ही जान पडते है ।

विजय०—आपसे उनसे भेट हुई थी ? वे अपने वड़े लड़के विजयसिंहकी कुछ वात करते थे ?

दू० आ०—जी नही । अव मै जाता हूँ । ( जाता है । )

[ तीसरा आदमी आता है । ]

विजय०—यह एक और आए। जरा सुनिए। आप सिंहपुरसे आते हैं ?

ती० आ०—जी नहीं, मै काशीसे आता हूँ ।

विजय०—लेकिन आपके कपड़े तो वंगालियोंकेसे है ।

ती० आ०—मेरा दुर्भाग्य ।

विजय०—दुर्भाग्य ?

ती० आ०—जी हाँ, और क्या ? हमारे देशके लोग जहाँ जरा सभ्य हुए कि बंगालियोंकेसे कपड़े पहनने लगे । आप कौन है ?

विजय०—मै बंगालका रहनेवाला हूँ ।

ती० आ०—आपके राजा सिंहबाहु है ?

विजय०—जी हाँ ।

ती० आ०—वही जिन्होने रानीके फेरमे पड़कर अपने लड़केको राज्यसे निकाल दिया है ?

विजय०—नहीं, उन्होने निकाला नही है ।

ती० आ०—कैद कर लिया है । उस नीच, नराधम, पशु—

विजय०—खबरदार !

ती० आ०—आप आँखे क्या दिखलाते है ? आप विदेशमे रहते है, सिंहबाहुकी करतूत आपने नहीं सुनी । खूनके प्यासे, पुत्रघातकी—

विजय०—( उसका गला पकड़कर ) खबरदार !

ती० आ०—छोड़ दो ।

विजय०—नहीं नहीं, आप मुझे क्षमा कीजिए । मुझसे गलती हुई ।

ती० आ०—सिर्फ गलती हुई ? बड़ी भारी गलती हुई । जाइए, इस बार आपको छोड़ देता हूँ । लेकिन फिर कभी अगर आप ऐसा करेगे तो याद रखिए, कभी माफ न करूँगा । मेरा मिजाज बड़ा खराब है । ( जाता है । )

विजय०—पिताजीकी बदनामी—और मै ही उसका कारण ! पिताजी ! आज एक अजनबी आदमीसे आपकी निन्दा सुनता हूँ और वह निन्दाकी बात तीरकी तरह यहाँ छिद जाती है । पिताजी ! अब

मुझे मालूम होता है कि आपको मैं कितना चाहता हूँ—कितना चाहता हूँ।

[ विजितका प्रवेश। ]

विजित—महाराज, सेना तैयार है !

विजय०—विजित, अब मुझे छुट्टी दो।

विजित—यह क्यो महाराज ?

विजय०—मै विद्रोह नहीं करूँगा।

विजित—लौटकर अपने राज्यमे नही चलेंगे ?

( विजयसिंह चुप रहते हैं। )

विजित—बिना घर-द्वारके, घरसे निकाले हुए सदा विदेशमे ही रहेगे ?

विजय०—नहीं, मैं पिताजीके पास लौट जाऊँगा। चलकर उनके पैर पकड़ूँगा। वे दयार्द्र हो जायँगे। मैं जानता हूँ, वे दयार्द्र हो जायँगे।

विजित—लेकिन उनके वे आँसू फिर आपकी विमाताके निश्वाससे उत्तप्त होकर उष्ण भाफ बन जायँगे। युवराज, जुडे हुए हाथ स्नेह और भिक्षाका रूप धारण करते हैं। आप उनको दिखला दीजिए कि उनका स्नेह-दान भिक्षादान नहीं है, वह न्याय्य अधिकार है। नहीं तो—

[ उरुवेल और अनुरोधका प्रवेश ]

विजय०—उरुवेल, क्या खबर है ? यह भेरीकी ध्वनि !

उरु०—यह विपक्षियोंके शिविरकी भेरीकी ध्वनि है। महाराज सिंहबाहुकी आज्ञाकी घोषणा हो रही है।

विजय०—सचमुच ! क्या आज्ञा है ? क्या महाराजने मुझे क्षमा कर दिया ? क्या वे मुझे अपने पास बुला रहे है ?

अनु०—नहीं युवराज !

विजय०—तब ?

अनु०—महाराजकी यह आज्ञा है कि जो व्यक्ति युवराजका कटा हुआ सिर हमारे सामने लावेगा, उसे एक हजार मोहरे इनाममे मिलेंगी।

विजित—क्यो विजय, आप चुप क्यो हो रहे ?

विजय०—यहाँ तक !—विजित, मेरा सिर घूमता है।

विजित—आप दृढ़ होइए। आपको यह दुर्बलता शोभा नहीं देती। आप वीर है। बभ्रुवाहनने अर्जुनसे युद्ध किया था। युद्धमें कुटुम्ब और जातिका विचार नहीं होता।

विजय०—विजित, तुम ठीक कहते हो।

विजित—यह सुनिए तुरहीकी ध्वनि। युवराज, युद्धके लिए आगे बढो।

विजय०—हॉ युद्धके लिए आगे बढ़ो। मै कार्य्य चाहता हूँ, कार्य। यदि कार्य्य न होगा, तो मै अपनी ही वेदनाके भारसे दब जाऊँगा। अब नहीं रहा जाता। सेना तैयार करो।

---

## दूसरा दृश्य

**स्थान**—लका, समुद्र-तट। **समय**—सवेरा।

[ कुवेणी और सहेलियॉ। ]

**गजल।**

**चमकते साँझ-किरणोंमें उडे जाते जलद कैसे।**
**उड़ी है विश्व-शोभाकी रँगीली जयध्वजा जैसे॥**
**इन्हीके संगमें आओ चलें हम देश परियोंके।**
**मलयमें मिल, मिला दें नील-नभमें पंखको ऐसे॥**
**जनम क्या है हुआ चिन्ता या नीरस काम करनेको।**
**मही है दीखती कैसी, लखो नर दीखते कैसे?॥**
**पर यह सब जाननेसे क्या? करो सुख-भोग जीवनका।**
**न तो फिर जन्मसे फल क्या? यथा रज है जगत तैसे॥**

कुवेणी—सन्ध्याकी किरणें आकर पृथ्वीतलका चुम्बन कर रही है, उनके प्रकाशमे नीला समुद्र लहरे मारता हुआ मानो कॉप रहा है।

जुमेलिया—ठीक कहती हो सखी।

कुवे०—समुद्र-जलका स्पर्श करती हुई ठण्ढी हवा आ रही है, जिससे शरीर सिहर उठता है।

जुमे०—वाह, क्या अच्छी हवा है!

कुवे०—सखी, यह अच्छी हवा है? अच्छी हवा है? यह तो जहर मिली हुई हवा है।

जुमे०—क्यो सखी, यह जहर मिली हुई क्यो है?

कुवे०—नहीं नहीं, मै भूलती हूँ! यह हवा नहीं है—यह हवा नहीं है सखी—

जुमे०—तो?

कुवे०—यह हवासे शून्य स्थल कॉटोसे भरा है और बिच्छुओंके डसनेकी-सी ज्वाला आकाश तक फैली हुई है!

जुमे०—सखी, कैसा आश्चर्य्य है!

कुवे०—क्यों आश्चर्य्य काहेका?

जुमे०—सखी, सुनती थी कि जब कोई प्रेममें हताश हो जाता है तब उसकी ऐसी दशा होती है; सुनती हूँ, जब दम्पतिमें कलह होती है तब ऐसी दशा होती है; सुनती हूँ, अन्त समयमे पापीकी भी ऐसी ही दशा होती है। लेकिन सखी, यह मैंने पहले पहल देखा कि सुखसे सोनेके पलंगपर सोनेवाले, और चुपचाप आरामसे पडे पड़े राजसुख भोगनेवालेकी भी ऐसी दशा होती है। बिलकुल नई बात है।

कुवे०—हॉ, बेशक नई बात है। बाल्यावस्थामें मुझे कभी ऐसा अनुभव नहीं हुआ था। सखी, कुछ समझमें नही आता कि यह कैसी अस्थिरता है—कैसी व्याकुलता है। क्षण-क्षणमे ऐसा जान पड़ता है, मानो सॉस रुका जाता है।

जुमे०—क्या किसीपर तुम्हारा अनुराग हो गया है ?

कुवे०—मै अनुराग करूँगी ! विधाताने कभी मुझे वैसा बनाया ही नही । मै किससे प्रेम करूँगी ? भला संसारमे कौन ऐसा है जं इस उद्दाम प्रेमका भार सह सके ? संसारमे कौन ऐसा है जो इसक प्रबल झोका सह सके ।

जुमे०—कोई नहीं है ?

कुवे०—कोई नहीं ।

जुमे०—क्या इस असीम संसारमे कोई किसीके साथ प्रेम नहीं कर सकता ?

कुवे०—असीम संसारमे ! क्या तुम इसीको ससार कहती हो ? यह तो एक बहुत ही छोटा टापू है । यह टापू तरंगोकी चहारदीवारीसे घिरा एक कारागार है । सखी, क्या तुम इसीको ससार कहती हो ? छिः !

जुमे०—क्यो ? और क्या चाहती हो ?

कुवे०—बतलाऊँ मै क्या चाहती हूँ ? मै चाहती हूँ कि अवारित-गति असीम अनन्त और मुक्त आकाशके ऊपर उड़कर इन अनन्त किरणोंमे चली जाऊँ । मै चाहती हूँ कि इस घने, फैले हुए, उद्वेलित, स्फीत, उच्छ्वसित समुद्रकी तरंग-गर्जनको अपने पैरोसे रौंधती हुई चली जाऊँ । मै देखना चाहती हूँ कि इस समुद्रके उस पार कैसी गुप्त सौन्दर्य्य-राशि बिखरी हुई है, कैसा विचित्र संगीत हो रहा है, कैसा विशाल आलोक फैला है, कैसी मृदु वायु बह रही है । लेकिन मेरी यह कामना हृदयके एकान्त कोनेमे ही घुट-घुट कर मरी जाती है ।

जुमे०—लो, राजकुमार आ रहे है ।

कुवे०—कौन ?

जुमे०—कुमार ।

कुवे०—जयसेन ?

जुमे०—हाँ।

कुवे०—आने दो। उनका उन्मादका प्रलाप अच्छा लगता है। राजकुमार बिलकुल सीधे हैं।

जुमे०—सखी, तुमने उन्हे चौपट कर डाला।

कुवे०—क्यो, मैंने क्या किया ?

जुमे०—वही जो किया जाता है। अपने रूपका चित्र उनके चित्त-पटपर अंकित कर दिया है।

दू० स०—तबसे उनकी आँखोमे नींद नहीं आती और—

ती० स०—न भूख है, न प्यास है, न काम है, न धन्धा है। पागलकी तरह देखते हैं, उन्मादियोकी तरह बाते करते है, सनकियोकी तरह सदा हँसते हैं और स्त्रियोकी तरह रोते है।

कुवे०—यह क्यो सखी ?

चौ० स०—सखी, अभागे पुरुषोंका स्वभाव ही ऐसा है। यदि किसी युवतीकी नाक तिलके फूलकी तरह हो, उसकी आँखे नीले कमलकी तरह हो, घुटनो तक लटकते हुए घुँघराले काले बाल हो, पके हुए बिम्बकी तरह सरस लाल होठ हो, तो बस, फिर वे नहीं बच सकते—उसे देखते ही वे आपेमें नही रहते। उनका मस्तक घूमने लगता है, छाती धड़कने लगती है,—वे मूर्च्छित होकर गिर पडते है।

कुवे०—क्यों सखी, उनकी ऐसी दशा क्यों हो गई है ?

पह० स०—तुम्हारे ही कारण—

कुवे०—मेरे ही कारण ? यह कैसे ?

दू० स०—सखी, तुम्हींने उनका सर्वनाश किया है।

कुवे०—मैंने ?

ती०स०—बेचारेको तुमने अपने नैनोके बाणसे घायल कर दिया है!

चौ० स०—आहा, बहुत ही बेचारा है!

कुवे०—क्या कहती हो जुमेलिया ? जयसेन मुझसे प्रेम करते है ?

पह० स०—हॉ सखी।

कुवे०—तो माल्रूम होता है कि उनकी दुर्दशाके दिन आ गए हैं

पह० स०—क्यो ?

कुवे०—क्यो सखी, जब पतंग जलती हुई आगमे गिरनेके लि जाता है, तब भला उसका क्या होता है ?

पह० स०—मरण।

कुवे०—हॉ सखी, मरण। संसारमे जितनी स्त्रियॉ है वे केवल हयी चाहती है—

[ जयसेनका प्रवेश। ]

कुवे०—क्यो जयसेन, क्या हाल है ?

जय०—एक श्यामा चिड़िया इस पेड़पर बैठी थी।

कुवे०—तब क्या हुआ ?

जय०—वह उड़ गई।

कुवे०—अच्छा हुआ। और कुछ हाल-चाल सुनाओ।

जय०—मुझे गाना आता है।

कुवे०—अच्छा सुनाओ।

[ जयसेन गाना शुरू करते हैं। कुवेणी उन्हे बीचमे ही रोककर कहती है—]

"तुम्हारी आवाज़ बहुत ही मीठी—"

जय०—हॉ, मीठी है ? मुझे गाना सिखाओगी ?

कुवे०—हॉ सिखाऊँगी। तुम कभी कुछ पढते-लिखते क्यो नहीं ?

जय०—मैं तुम्हीसे सीखूँगा।

कुवे०—मै क्या तुम्हारी गुरु हूँ ?

जय०—तुम मुझें—तुम मुझे नही चाहतीं ?

कुवे०—क्यों नहीं। और तुम?

जय०—मैं? कुवेणी, तुम जानती हो कि—

कुवे०—क्या?

जय०—तुम मेरी कुवेणी हो। मै मुँहसे कहकर तुम्हे कुछ नही बतला सकता। मैं जब तुम्हारी तरफ देखता हूँ—और फिर मैं अशिक्षित हूँ। तुम मुझे सिखा लेना कुवेणी। तुम्हारे पास—कुवेणी, तुम मुझसे ब्याह करोगी?

( कुवेणी जोरसे हँसती है। )

कुवे०—तुमसे ब्याह करूँगी मैं? तुम्हारे मनमें यह विचार कैसे आया? हैं! तुम रोने क्यों लगे? आओ, आँसू पोंछ दूँ। अरे मेरे छोटे भइया, चलो, घर चलें। ब्याह करनेके लिए मेरी रचना नहीं हुई है।

[ कालसेन और वसुमित्राका प्रवेश। ]

वसु०—कुवेणी, तुम यहाँ हो? मै आज दिनभर तुम्हे महलमें ढूँढ़ती रही।

कुवे०—क्यो माँ?

काल०—कुवेणी, तुम राजकुमारी हो, और अब बिलकुल बच्ची नहीं हो। तुम्हे यह हीन आचरण शोभा नहीं देता।

कुवे०—( चिल्लाकर ) हीन आचरण! महाराज—

काल०—क्यों, एकाएक छेड़ी हुई नागिनीकी तरह फण फैलाकर क्यो फुफकार उठीं? मैं फिर भी कहता हूँ कि यह हीन आचरण है। अब तुम बड़ी हुई। तुम्हारा इस तरह महल छोड़कर बे-रोक-टोक मैदानोंमें जंगलोंमें, पहाड़ोंकी चोटियोपर और समुद्रके किनारे घूमना अच्छा नहीं है।

कुवे०—बस यही बात! पर महाराज सच तो यह है कि मैं इतना घूमनेसे भी तृप्त नहीं होती। इस शरीरके बन्धनने मुझे बाँधकर इस

मर्त्यलोकमे रोक रक्खा है—इस शारीरिक दुर्बलताने मुझे कैद कर रक्खा है। नही तो महाराज, मै चाहती हूँ, कि इस महान् नील समुद्रको पैरोके नीचे छोड़कर नीले आकाशमे पंख फैलाकर तबतक बराबर उड़ती हुई चली जाऊँ जबतक कि यह क्षुद्र पृथ्वी मेरी दृष्टिसे लुप्त न हो जाय। मै दौड़ जाना चाहती हूँ नक्षत्र-मंडलसे नक्षत्र-मंडलमें, जीवनसे मरण, मरणसे जीवन और उस जीवनसे फिर दूसरे जीवनमे। मेरा जीवन, मेरा हृदय, मेरे प्राण निरन्तर दहकती हुई आगके समान जले जाते है। तीव्र आकाक्षा मुझे निरन्तर सुखाये डालती है। तुम क्या जानो! जानते हो? ना ना, तुम कैसे जान सकते हो?

काल०—चुप रहो। हम तुम्हारा यह प्रलाप सुननेके लिए यहाँ नही आए है।

कुवे०—तब?

वसु०—तुम्हे यह बतलाने आए है कि तुम्हारा कर्त्तव्य क्या है।

कुवे०—मेरा कर्त्तव्य! समझी पिताजी! यदि आपने मेरा कर्त्तव्य समझा है तो बतला दीजिए। मै तो कुछ जानती नहीं।

वसु०—कुवेणी, तुम विवाह करो।

कुवे०—विवाह! विवाह!! एक बन्धन तो था ही, अब उस-पर एक और बन्धन! अधम पशुओकी तरह जान-बूझकर अपना गला यूपकाष्ठके भीतर बढ़ा दूँ? नहीं, माता, तुम मुझे क्षमा करो। मै तो पहले ही कारागारमे हूँ, ऊपरसे तुम मुझे बेडी मत पहनाओ।

काल०—राजकुमारी, तुम यह क्या कह रही हो?

कुवे०—महाराज, आप मेरी बाते नही समझ सकते।

काल०—सुनो बेटी; हम तुम्हारे ही भलेके लिए कहते है। ब्याह कर लो!

कुवे०—क्यो महाराज, मैंने कौनसा भारी अपराध किया है?

काल०—तुम ब्याह करो। हमने तुम्हारे लिए पात्र ठीक किया है।

कुवे०—( चौंककर ) पात्र ठीक किया है! कौन है वह पात्र?

काल०—युवराज।—हैं!—यह क्या? तुम हँसने क्यों लगी?

कुवे०—मैं जयसेनसे ब्याह करूँगी? यह तो बडी विलक्षण बात है!

काल०—विलक्षण—

कुवे०—यह तो बहुत ही हास्यजनक बात है।

काल०—क्यों?

कुवे०—महाराज, पहले आप मेरा मुँह देखे और तब अपने पुत्रका मुँह देखें। और तब यदि आप गम्भीरतापूर्वक कह सके कि—"जयसेनसे ब्याह करो।" तो मैं अवश्य कर लूँगी। कैसी हास्यजनक बात है!

काल०—क्यो हास्यजनक क्यों है? जयसेन लंकाके भावी अधिपति—

कुवे०—महाराज, वैसे ही अधिपति जैसे आप हैं?

वसु०—छि: कुवेणी, तुम ऐसी बाते करती हो? ये तुम्हारे पिता है।

कुवे०—क्यो, पिता कैसे हुए?

वसु०—धीरेसे बोलो।

कुवे०—पिता क्या अपने पुत्रके साथ अपनी कन्याके विवाहका प्रस्ताव कर सकते हैं? ये मेरे पिता है! ये क्षुद्रजीव, ये भिक्षुक, जिन्हे रास्तेकी धूलिमेंसे उठाकर तुमने अपनी बगलमे बिठाया है—ये मेरे पिता हैं!!! ये तुम्हारे राजा हो सकते हैं, पर मेरे पिता नहीं हो सकते।

काल०—कुवेणी, तुम मेरे सामर्थ्यको तुच्छ समझ रही हो?

कुवे०—हाँ, और यही स्वाभाविक है। मैं तो अपने एक ही पिताको जानती हूँ जिनकी आज्ञाको मैं ईश्वरकी आज्ञाके समान सिरपर रखती थी, जिनके उपदेशको कौस्तुभ-मणिकी तरह हृदयमे रखती थी, स्नेहपूर्वक

बुलानेसे दौड़कर जिनके पैरोंसे लिपट जाती थी, जिनके ऑसू मेरे लिये वर्षाकी रात थे, जिनका हास्य मेरे लिये शरत्कालका सुन्दर प्रभात था, जिनकी ज्ञानमयी वाणी समुद्र-संगीतके समान थी, जिनके वचन बहुत ही मीठे वसन्तके नए कोमल पत्तोंकी मर्मर-ध्वनिके समान थे और जिनकी क्रुद्ध वाणी वज्राघातके जैसी लगती थी। मै उन्हीं एक पिता-जीको जानती हूॅ। और इस समय वे स्वर्गमे है। उनके सिवाय दूसरे पिताको न मै पहचानती हूॅ और न मानती हूॅ।

काल०—चाहे पहचानो और चाहे न पहचानो। पर तुम्हे उसकी आज्ञा माननी पड़ेगी।

कुबे०—नही महाराज; उससे पहले ही मै अपने गलेमे फॉसी लगा लूॅगी।

काल०—बहुत अच्छी बात है। रानी, तुम्हारी लड़की बहुत मन-मानी हो गई है। वह जानबूझकर अपनी मौत बुला रही है।

वसु०—महाराज, आप शान्त हो। लड़की अभी अनजान है। मैं उसे समझा-बुझाकर ठीक कर लूॅगी।

कुबे०—मॉ, आज मै पहले ही पहल देख रही हूॅ कि तुम इस राजभिक्षुकको 'महाराज' कहकर कातर कम्पित कण्ठसे खुशामद कर रही हो। तो क्या मै यही समझ लूॅ कि इस राजमहलमे अब तुम दासी हो और ये तुम्हारे महाराज और स्वामी है? क्यो, चुप क्यो हो गई? ठीक है, मैंने अपना कर्त्तव्य समझ लिया।

वसु०—मेरी प्राणोंसे भी प्यारी बेटी, तुम अपना कर्त्तव्य समझ गई?

कुबे०—रहने दो। अब इस प्रेमकी आवश्यकता नही। मैंने अपना कर्त्तव्य समझ लिया। मै अबतक समझती थी कि तुम्ही महारानी हो।

पर आज मुझे मालूम हुआ कि अब तुम महारानी नहीं रह गई बल्कि अपने ही राजमहलमे तुम दासी हो गई। फिर भी मैं तुम्हें 'महारानी' कहती हूँ केवल सुजनताके कारण। अब मैं अपना कर्त्तव्य समझ गई।

काल०—समझ गई—अब तो तुम मेरी आज्ञा मानोगी न ?

कुवे०—नहीं, यह नहीं, बल्कि मैने यह समझ लिया कि अब मेरा यहाँ रहना ठीक नही है।

वसु०—यह क्या बेटी !

कुवे०—मैंने सोचा था कि मेरे पिता नहीं हैं तो माता तो है। मैं उसकी गोदमें आश्रय लूँगी, उसीके आँचलमे मुहँ ढाँककर रोऊँगी। मैंने सोचा था कि ससारमें ऐसा एक आदमी तो मेरा अपना है जिससे मै एकान्तमे अपने जीकी बात कह सकूँगी। लेकिन अब मैं देखती हूँ कि इस संसारमें मेरा कोई नही है। पिता नहीं है। माता थी, पर अब वह भी नहीं रही। जानती हो जननी?—नहीं, तुम इन बातोंको क्या जानो! तुमने प्रेम करना सीखा ही नहीं। तुम्हारे माता-पिता बचपनमे एक साथ नहीं मरे। विलासमें ही तुम्हारा जन्म हुआ, विलासमें ही तुम पलीं, विलासमे ही तुम्हारा विवाह हुआ और विलासमे ही तुम विधवा हुईं। सो विलासकी रची-पची हुई तुम, मेरे इस समयके मार्मिक दुःखको कैसे जानोगी!

वसु०—बेटी, क्रोध मत करो—

कुवे०—नहीं, मैं क्रोध नहीं करती। जननी, जो उद्धत होता है उसपर क्रोध किया जा सकता है, किसी अतिशय पतितपर नहीं। भला मैं तुमपर क्रोध क्यों करने लगी! तुम्हें क्या मालूम कि तुम्हारी यह दुरवस्था देखकर, तुम्हारा यह दासत्व देखकर, मंत्रमुग्ध नागिनका कुचला और धूलमें मिला हुआ फण देखकर मै मन ही मन दुःखसे किस तरह मरी जा रही हूँ!

काल०—तुमने क्या निश्चित किया ? हमारी आज्ञा मानोगी या नही ?

कुवे०—तुम्हारी आज्ञा महाराज ! मै तुम्हारी आज्ञापर लात मारती हूँ । क्षमा करो, क्यो व्यर्थ बँधे हुए शेरको उत्तेजित करते हो ? मै तुम्हारी आज्ञा कभी न मानूँगी । तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो ।

काल०—तब हम तुम्हे कैद करेगे ।

कुवे०—मुझे कैद करोगे ? ( हँसती है ) क्या तुमने कभी सुना है कि किसीने समुद्रकी लहरोको बाँधा है, बिजलीको चमकनेसे रोका है, बादलको गरजनेसे रोका है ? ओ लंकाकी रानीके पति ! मै तुम्हारी धमकियोकी परवा नही करती । पर अब मै यहाँ तुम लोगोके सुखमे बाधा डालनेके लिए नही रहूँगी । लंकाके राजमहलमे अब कुवेणीकी कृष्ण-छाया नहीं दिखेगी ।

वसु०—यह क्या बेटी ! तुम कहाँ जाओगी ?

कुवे०—मै नही जानती कि कहाँ जाऊँगी । पर हाँ, लंकाके राजमहलमे अब नहीं रहूँगी ।

वसु०—यह क्या बेटी !

कुवे०—माता, अब तुमसे बिदा होती हूँ ।

वसु०—यह क्या कुवेणी ! मुझे छोडकर तुम कहाँ जाओगी ? तुम अनजान लड़की हो । चलो, घर चलो ।

कुवे०—वह घर घर नही जहाँ स्नेह नहीं, वह जन्मभूमि जन्मभूमि नही जहाँ स्नेह नही और वह माता माता नही, जिसमे स्नेह नहीं ।—जननी, अब मुझे बिदा करो । ( जाती है । )

---

## तीसरा दृश्य

**स्थान**—कारागार। **समय**—दोपहर।

[ सिंहबाहु और अनुरोध । ]

सिंह०—क्या कहा, मुझे किसने कैद किया है ?

अनु०—महाराज विजयसिंहने ।

सिंह०—महाराज विजयसिंह ! कहाँके महाराज ?

अनु०—बंगालके महाराज ।

सिंह०—बंगालके महाराज तो हम हैं।

अनु०—जी—

सिंह०—'जी' नहीं, 'महाराज' कहो। बंगालके महाराज केवल हम ही हैं। ब्रह्माण्डमे केवल एक ईश्वर है—दो नहीं। आकाशमें एक ही सूर्य्य है। राज्यमे एक ही राजा होता है। घरमे कर्त्ता-धर्त्ता एक ही आदमी होता है—दो नहीं। जबतक हम जीते हैं तबतक बंगालके केवल हम ही राजा हैं।

अनु०—और विजयसिंह ?

सिंह०—डाकू—जिसने यह सोनेकी बग-भूमि लूट ली है, मेरा राज्य छीन लिया है। लेकिन मानिक चोरी हो जानेपर भी मानिक ही रहता है, हम चाहे पराजित हो, पदच्युत हों, बन्दी हो, कुछ भी हो, जब तक हम जीते हैं तब तक सिर्फ हम ही महाराज है, विजयसिंह नहीं, याद रक्खो।

अनु०—विजयसिंह आपके पुत्र है ।

सिंह०—जबतक पिता जीते रहें तबतक पुत्र महाराज नहीं होता-वह युवराज रहता है। महाराज हम हैं।

अनु०—अच्छा ऐसा ही सही। मै यहाँपर पदवीका विचार कर नही आया हूँ। महाराज विजयसिंहने कहलाया है—

सिंह०—युवराज विजयसिंह कहो।

अनु०—उन्होने कहलाया है—

सिंह०—पहले कहो कि 'युवराज विजयसिंहने कहलाया है—' औ नही तो चले जाओ। हम तुम्हारी बात नहीं सुनना चाहते। चले जाओ

अनु०—जी, मै तो केवल नौकर हूँ।

सिंह०—क्या हमारे पास कोई नहीं है जो इस आदमीको काय सिखला सके ? जब महाराजसे कोई बात कहनी होती है तब घुट टेककर पहले ' महाराज ' कह कर तब बात शुरू की जाती है। क कि—' महाराज ! युवराज विजयसिंहने निवेदन किया है—' औ तब जो कुछ कहना हो सो कहो।

अनु०—अच्छा युवराज विजयसिंहने कहलाया है कि मै ए बार महाराजसे भेंट करना चाहता हूँ। यदि महाराज कृपा करके— राजसभामे आवें—

सिंह०—राजसभामे ?

अनु०—अर्थात् युवराजके पास आवे।

सिंह०—कौन जायगा ? किसके पास ? महाराज जायँगे—यु राजके पास ? जाओ, युवराजसे कह दो कि यह कायदा नही है। यदि उन्हे कुछ निवेदन करना है तो यहाँ आकर निवेदन करे।

अनु०—यह तो कारागार—

सिंह०—हम जहाँ रहे वहीं हमारा राज्य है। इस कारागारमे ही हमारा राज्य है। और यही चौकी ( बैठकर ) हमारा सिंहासन है। हम यहीं बैठकर उनका निवेदन सुनेंगे।

अनु०—तो क्या महाराज यहीं उनके साथ भेट करेंगे ?

सिंह०—हाँ, यही।—जाओ। उनको भेज दो। हम उनकी बात सुनेंगे।

अनु०—जो आज्ञा महाराज! (अनुरोधका जाना।)

सिंह०—विजयको इतना अभिमान हो गया है! इतना दम्भ! (क्रोधसे इधर-उधर घूमते हैं।)

[ सुरमाका प्रवेश ]

सिंह०—कौन?

सुर०—मैं हूँ, सुरमा।

सिंह०—सुरमा कौन?

सुर०—आपकी कन्या सुरमा।

सिंह०—क्यों, यहाँ क्या काम है?

सुर०—क्या पिताके पास कन्या विना कामके नहीं आती?

सिंह०—विजयने तुम्हें कैद नहीं किया?

सुर०—भाई कहीं बहनको कैद करते हैं!

सिंह०—नहीं, केवल पुत्र अपने पिताको कैद करते हैं! क्यों, मानवधर्म्म-शास्त्रमें यही लिखा है न?

सुर०—क्या आप कैदमें हैं?

सिंह०—यह देखो सुरमा, उन्होंने मुझे हथकड़ी-बेड़ी पहना दी हैं—हाथ बाँध दिए हैं! (रोकर गद्गद् स्वरसे) पैर भी बाँध दिए हैं। यह देखो।

[ रानीका प्रवेश ]

रानी०—महाराज, आप लड़कीके गले लगकर बच्चेकी तरह रोते हैं! लड़का तो अपने पिताको लाल लाल आँखें दिखलाए और पिता रोए—यह मैं आज पहले ही पहल देख रही हूँ।

सुर०—यह सब किसकी कुमंत्रणासे हुआ है माँ?

रानी—मेरी कुमंत्रणासे ?

सुर०—अवश्य। मेरे भइया ऐसे नही है। वे पिताजीके लिए सदा पागल बने रहते है। पिताजी भी सीधे सादे है। तुम्हीने पिताको पुत्रसे विमुख कर दिया है और पुत्रको भड़काकर पिताके विरुद्ध खड़ा कर दिया है—दो प्रेमपूर्ण हृदयोमे आग लगा दी है। धन्य हो तुम

रानी—वाह माताके प्रति कन्याकी कैसी उपयुक्त बात है—कैसा उचित आचरण है! विपत्तिके समय अच्छी कन्याएँ धैर्य्य दिलाती है-इस तरह फटकार नहीं बतलाती।

सुरमा—मै तो धैर्य ही दिलाने आई थी। अपनी सहवेदनाके ऑसुओसे पिताजीके हृदयका घाव धोकर उसपर प्रेमका प्रलेप लगाने आई थी; परन्तु अपने परमस्नेहास्पद पिता—बंगालके महाराज—के हाथ पैर बँधे देखकर मेरे ऑसू ही सूख गए। पिताजी, आपका यह अपमान!

रानी—इसी पुत्रके लिए महाराज निरन्तर पागल बने रहे! पहले इसने राज्यमे भारी उपद्रव खड़ा करके राज्यको अराजक किया और तब राज्यसे बाहर जाकर उस अराजक राज्यको बिलकुल नष्ट करनेका प्रयत्न किया। यह पुत्र है या शत्रु ?

सिंह०—बोलो मत।

रानी—क्यो, बोलूँ क्यों नहीं ?

सिंह०—चुप रहो।

सुर०—पिताजी!

सिंह०—चुप रहो सुरमा! मेरा खून उबल रहा है—ऑखोमेसे चिंगारियॉ छूट रही है। मैने विजयसे कैफियत तलब की है।

रानी—हॉ, वह कैफियत देगा! वह इस समय डाकुओसे घिरा राजसिंहासनपर बैठा हुआ मजेमें हँस रहा है और आपके प्राण लेनेकी सलाह कर रहा है।

सुर०—यह कभी नहीं हो सकता !

रानी—( महाराजकी ओर इशारा करके ) यह समझती थीं कि ऐसा कभी हो सकता है ? यह समझती थीं कि तुम्हारे पिताके हाथमे इस तरह हथकडी और पैरमे बेड़ी पडेगी ?

सुर०—माँ, अब तुम और क्या मन्त्रणा करती हो ? और क्या अनर्थ करना चाहती हो ?

रानी—मैं ही तो सब अनर्थ करती हूँ। और तुम्हारे सब-गुण-निधि भइया राज्यके इष्टदेव, पुण्यके कल्पतरु—

सिंह०—चुप रहो !—विजयसिंह आता है।

[ अनुरोध और उरुवेलके साथ विजयसिंहका प्रवेश ]

सुर०—भइया ! भइया ! यह क्या ?

विजय०—क्या है सुरमा ! ठहरो।—पिताजी ! ( प्रणाम करते है। )

रानी—वाह, क्या अच्छा ढोंग है !

विजय०—कौन महारानी ! अनुरोध, महारानी यहाँ महाराजके पास क्यो आई ? उरुवेल, महारानीको दूसरे कमरेमे ले जाओ।

ऊरु०—आइए महारानीजी !

सुर०—ठहरो ! भइया ! यह सब क्या हो रहा है ? क्या ये बाते तुमसे भी हो सकती है ?

विजय०—कौनसी बात सुरमा ? जिसने एक दु.खाच्छन्न परिवारमें शनिकी भाँति प्रवेश किया हो, जिसने मातृहीन अभागे पुत्रसे उसके पिताको छीन लिया हो, पुत्रके लिए अन्धकारमें काम देनेवाले उसी एक दीपकको भी जिसने बुझा दिया हो, जिसने पिताका मन पुत्रकी ओरसे फेर दिया हो, क्यो बहन, उसके लिए ऐसा करना क्या कोई अन्याय है ?

सुर०—लेकिन—

विजय०—ठहरो । अभी तो उसके साथ उचित और ठीक ठी व्यवहार हुआ ही नही । पर हॉ, आगे चलकर देखना ! अभी होगा

सुर०—लेकिन महाराजके प्रति—

विजय०—मैंने जो विद्रोह किया है ? जब मैने देखा कि भि निष्फल हुई तब ऐसा क्यो न करता ?

सुर०—लेकिन उन्हे इस तरह कारागारमे बन्द करना औ हथकड़ी-बेड़ी पहनाना !—

विजय०—( बहुत ही आश्चर्यसे ) यह क्या ? ( देखकर ) है अनुरोध ! पिताजीके हाथ-पैर किसने बॉधे है ?

अनु०—मैं तो समझता था कि यह सब युवराजकी आज्ञासे हं हुआ है ।

विजय०—मै पिताजीके हाथ-पैर बॉधनेकी आज्ञा दूँगा ? अनुरोध तुमने इतने दिनोमे भी मुझे न पहचाना ?

अनु०—क्या युवराजने यह आज्ञा नहीं दी थी ?

विजय०—मैने तो महारानीके हाथ-पैर बॉधनेकी आज्ञा दी थी पिताजी, किसी भारी भूलके कारण यह बात हुई है । मै स्वयं यह सब खोल देता हूँ । ( हथकड़ी-बेडी खोलकर ) सुरमा, यह हथकड़ी वेड़ी महारानीको पहना दो ।

सुर०—यह क्यो भइया ?

विजय०—तुम पिताजीको भी जानती हो और भइयाको भी जानती हो । हमे जो जिद कर आती है उसे ही करते है । जाओ, पहना दो।

सुर०—मुझसे यह काम न हो सकेगा ।

विजय०—खैर, तब मुझे ही यह काम करना पड़ा । (रानीको हथकड़ी वेडी पहनाते है । ) महारानी, यहीं तुम्हारा दण्ड पूरा नही हुआ ।

कल प्रजाके सामने महारानीका सिर मूँडा जायगा और उन्हे नगरके वाहर निकाल दिया जायगा। जाओ, ले जाओ महारानीको।

( अनुरोधका महारानीको ले जाना। )

विजय०—अब पिताजी, मेरा एक निवेदन है।

सिह०—विजयसिंह, क्या बन्दी होनेकी दशामे भी निवेदन सुना जाता है?

विजय०—महाराज वन्दी नही है। महाराज जिस प्रकार पहले मुक्त थे, उसी प्रकार अब भी मुक्त है। केवल महारानीके सामने जानेका आपको अधिकार नही है।

सिंह०—यह किसकी आज्ञा है?

विजय०—मेरी।

सिंह०—अरे लड़के! तू हमारे सामने ही हुकुम चलाने लगा! इस साहसका भी कुछ ठिकाना है! जो अपने पिताके हाथ-पैर बॉध सकता है, वह और क्या नही कर सकता!

विजय०—महाराज, मेरी आज्ञासे अथवा मेरी जानकारीमे यह काम नहीं हुआ। महाराज, मुझपर विश्वास करें।

सिंह०—हो, या न हो। एक ही वात है!

विजय०—महाराज, मुझे क्षमा करे।

सिंह०—और उसके वाद?

विजय०—मेरा निवेदन सुने।

सिंह०—वगालके महाराज सिहासनपर वैठकर निवेदन सुनते है।

विजय०—अच्छा ऐसा ही सही। मैं बंगालके सिंहासनपर अधिकार नही कर वैठा हूँ—मुझे राज्य लेनेकी लालसा भी नहीं है। मैं केवल एक वातका अधिकार चाहता हूँ। उस अधिकारसे मुझे कोई वचित नहीं कर सकता। स्वयं महाराज भी वंचित नही कर सकते।

सिंह०—विजयसिंह, तुम राजद्रोही हो। हम तुम्हारा न्याय विचार करेंगे। उसके बाद तुम्हारा निवेदन सुनेंगे।

विजय०—बहुत अच्छा। विजित, अब महाराज मुक्त हैं और जहाँ चाहे वहाँ जा सकते है। प्रणाम महाराज!

( विजयसिंह सबको साथ लेकर जाते हैं। )

सिंह०—वही दर्प! वही अभिमान! मेरा पशुत्व नष्ट होता जा रहा है। मेरा हृदय पिघलता जा रहा है। मेरा अनुरूप पुत्र है। सुरमा! बेटी!

सुर०—पिताजी, भइया बड़े उच्च विचारके हैं, उन्हे क्षमा कर दीजिए।

सिंह०—हमारा क्रोध जाता रहा—हम पानी पानी हो गए।

---

## चौथा दृश्य

[ कालसेन और विरूपाक्ष बातें कर रहे हैं। ]

काल०—कुवेणीका कुछ पता नहीं लगा?

विरू०—नही महाराज!

काल०—अच्छी तरह ढूँढा था?

विरू०—हाँ महाराज, बहुत अच्छी तरह ढूँढा। नगर, पर्वत, गाँव, जंगल सब जगह ढूँढा।

काल०—अच्छा जाओ।—मगर सुनो! हारीतको सपरिवार पकड लाओ।

विरू०—जो आज्ञा महाराज!

काल०—उसको सपरिवार फाँसी देंगे। देखे, अबकी वह अपनी छुपी हुई सम्पत्तिका पता बतलाता है या नही। जाओ, पकड़ लाओ।

विरू०—जो आज्ञा। ( जाता है )

काल०—प्रजाका अभिमान चूर्ण करेंगे। कुल-वधुओंको कलंकित करेंगे। गॉव जलाकर राख करेंगे। पूरा पूरा राज्य कर रहे हैं! कौन? जयसेन?

[ पागलोंकी तरह जयसेनका आना। ]

काल०—जयसेन, यह भेस क्यो बनाया?

जय०—अच्छा महाराज, बदल आता हूँ। (जाना चाहता है।)

काल०—ठहरो—सुनो जयसेन! तुम दिनपर दिन पीले और दुबले हुए जाते हो। तुम्हें क्या हुआ है?

जय०—क्यों, क्या हुआ है?

काल०—तुम्हें खानेको नहीं मिलता?

जय०—मिलता क्यो नहीं। महाराज मुझे कुवेणीका पता लगा है।

काल०—अच्छा बताओ, कहॉ है कुवेणी?

जय०—समुद्र-तलमे।

काल०—क्या कहते हो?

जय०—मैंने उसे देखा है। कल सन्ध्याके समय मै समुद्रके किनारे खड़ा था। वहीं मैंने उसे देखा था।

[ कुछ दूरपर वसुमित्रा आती दिखलाई देती है। ]

काल०—इसका क्या मतलब?

जय०—कुवेणी समुद्रमेसे सूर्य्यकी तरह उठी। इसके बाद वह समुद्रपरसे चलकर मेरे पास आई और मेरा हाथ पकड़कर बहुत देर तक मेरे मुँहकी ओर एकटक देखने लगी। फिर वह धीरे धीरे चली और जाकर समुद्रके जलमें मिल गई। तब मैंने आकाशकी ओर देखा। वहॉ उज्ज्वल कनक-वेशमे कुवेणी खडी थी। थोडी देर बाद वह आकाशमे मिल गई।

काल०—यह क्या कह रहे हो जयसेन! फजूल बकवाद मत करो।

जय०—नही, मैंने उसे सचमुच देखा था ।

काल०—अच्छा जाओ, कपडे बदल आओ ।

जय०—महाराज, मैंने साफ देखा था ।

काल०—अच्छा, जाओ ।

( जयसेनका धीरे धीरे जाना )

काल०—कुछ सुना ?

वसु०—( आगे बढकर ) कुमार पागल हो रहे है—प्रेममे !

काल०—यह नही हो सकता ।

वसु०—नही प्यारे, हो सकता है । आप प्रेमकी गति नहीं समझ सकते । आपने कभी प्रेम नही किया ।

**प्रेम न गोपद्-वारि है, गैरिक-निर्झर प्रेम ।**
**प्रेम न छनिक हुलास है, प्रेम नित्य दृढ़ नेम ॥**

काल०—खैर । क्या तुम भी हमे इसी प्रकार चाहती हो ?

वसु०—और क्या नही चाहती ? चाहती हूँ । नहीं तो मै अपना सर्वस्व अर्पण न कर देती ।

काल०—क्यो, तुमने हमे क्या दे दिया है ?

वसु०—( उत्तेजित भावसे ) आप नही जानते ? प्राण, मन, शरीर, आत्मा, लोक-लज्जा, धर्म्म-भय, विभव, सम्पत्ति, सोनेकी लका सब कुछ आपके चरणोमे समर्पित कर दिया है । इसपर भी आप पूछते है कि मैने आपको क्या दे दिया है ?

काल०—इतना !

वसु०—और फिर आप मेरी जातिपर राज्य कर रहे है, उसे अपने पैरोसे रौंद रहे है । उसका आर्त्तनाद—एक समूची जातिका आर्त्तनाद, मै अपने कानोसे सुन रही हूँ । मै उसकी जननी होकर उसका आर्त्तनाद सुन

रही हूँ। देख रही हूँ कि बालक अपनी माताके सामने सजल नेत्रोंसे निष्फल याचना कर रहे है; और मै कुछ कर नहीं सकती। जो माता हो—जो जननी हो, वही उस दुःखको समझ सकती है।

काल०—तुमने हमे अपना यह राज्य क्यो दिया था रानी?

वसु०—हाय क्यो दिया था? मैं स्वयं ही अपने आपसे बार बार पूछती हूँ कि क्यो दिया था,—सबेरे और शाम अपने आपसे मैं यही प्रश्न करती हूँ। उसी समय हृदयसे आत्म-ग्लानि उठती है और आकर गला दबा देती है। रातको नीले आकाशकी ओर देखकर मै पूछती हूँ कि मैंने यह राज्य क्यों दे दिया? उस समय सारे विश्वसे अट्टहासकी ध्वनि उठती है और मेरी छातीमे रक्तका समुद्र लहराने लगता है। आज आप भी पूछते है कि क्यो दिया था?

काल०—यदि तुम्हें इतना ही पछतावा हो तो हम राज्य लौटा देते हैं। तुम ले लो।

वसु०—महाराज, भला यह कैसे हो सकता है! स्त्री जो कुछ एक बार दे देती है, क्या वह फेरा जा सकता है! जो कुछ वह खो देती है जन्म-भरके लिए खो देती है।

काल०—वह क्या?

वसु०—वह है धर्म। मैंने अपना धर्म्म खो दिया है! धिक्कार है! मुझे सौ बार धिक्कार है!

काल०—तुम पछता रही हो?

वसु०—यौवनके प्रारंभमें ही मैं अकेली असहाय विधवा हो गई। उस समय अंग अंगसे यौवन फूटा पड़ता था, ऐश्वर्य्यके मदसे मत्त थी, कामनाकी मदिरा पीकर ज्वालामय हो रही थी, आधीसी पागल थी—इस लिए एक साथ ही सब कुछ खो बैठी। और तब—

काल०—और तब ?

वसु०—महाराज, अब कहनेसे क्या लाभ ? इसके बाद मेरे पा
एक ही सम्पत्ति बची थी—उस अन्तिम सम्पत्तिका नाम लेते मेरी जी
ऐठ आती है। मेरी एक मात्र सन्तान, मेरे मृत पतिका एक मात्र स्मृति
चिह्न,—अन्तिम रत्न, मुमूर्षका हरिनाम—उस कन्याकी भी मैंने अप
कामकी अग्निमे आहुति दे दी !—ओह ! ( पसीना पोछती है। )

काल०—खूब ! अपने पापका ऐसा विस्तृत व्याख्यान—कण्ठस्
पाठकी तरह ऐसी आवृत्ति, आजतक हमने पहले कभी नही सुनी थी

वसु०—मेरा सब कुछ गया। महाराज, आप सब कुछ ले लीजिए
केवल मेरी कन्या मुझे लौटा दीजिए। एक कन्या लेकर मैं वैधव्य
समुद्रमे उतरी थी;—इसके बाद किनारेपर लगी। वहाँ देखा—एक भुजङ्ग
वेष्टित और क्रूर गह्वरसंकुल जंगल। आखिर उस कन्याको सॉपने का
लिया, वह छटपटा कर मर गई और मै खड़ी खडी देखती रही।

काल०—तुम्हे पछतावा होता है ?

वसु०—नही,—नहीं—मै क्या कह रही हूँ ! पागल हो गई हूँ ! ज
कुछ गया है वह जाय ! आप रहिए। मै आपके भुजङ्ग-पिच्छिल गले
लगी रहूँ। शून्यकी अपेक्षा यही अच्छा है ! यही अच्छा है ! (रोती है

काल०—रोओ। सदा रोती रहो। इस जन्ममे तुम्हारा यह रोन
बन्द नही होगा। प्यारी, तुमने कुछ सुना ?

वसु०—कुछ नही। लंका समुद्रमे डूब जाय, आइए नाथ ! हम
लोग प्रेमपूर्वक आकाशमे विचरण करे। जो होना होगा सो होगा।

काल०—क्या कहती हो प्यारी ?

वसु०—मै डूबने चली हूँ, डूबूँगी। आप भी डूबेंगे, मै भी डूबूँगी।
इस जातिके गरम खूनके समुद्रमे दोनो डूबेगे। आइए डूबे। आइए, इस

सम्पत्तिके पर्वतके शिखरपरसे हाथ पकडकर नाचते हुए गहरे गड्ढेमे उतर चलें। जाय, लंका रसातलमे चली जाय।

[ उत्पलवर्णका प्रवेश। ]

काल०—पुरोहितजी, क्या खबर है?

उत्प०—महाराज, आज मै पुरोहित बनकर आपके पास नही आया हूँ।

काल०—तब क्या बनकर आए हैं?

उत्प०—जातिका प्रतिनिधि बनकर मै उसकी ओरसे आपके पास एक निवेदन करनेके लिए आया हूँ।

काल०—कहिए, क्या है?

उत्प०—आप अपना स्वेच्छाचार बंद करे। पिताकी भाँति प्रजाका शासन करे। राज्यका और अपना सर्वनाश न करें।

काल०—क्यो? हमने किया क्या है?

उत्प०—आपने राज्यमे डाकुओंसे भी अधम व्यवहार किया है, लंकाकी स्त्रियोके साथ व्यभिचार किया है, लडकोसे भरी हुई नाव डुबाकर उसका आनन्द देखा है, नगरमें आग लगा दी है और उसका दृश्य देखकर तालियाँ बजाकर प्रेतोंकी तरह आप नाचे है।

काल०—झूठ! बिलकुल झूठ!

उत्प०—सावधान महाराज! समय रहते आप इसका प्रतिकार कीजिए। नहीं तो इसका प्रतिकार भगवान् करेंगे।

काल—आप क्या पागलोकीसी बाते करते हैं!

उत्प०—नही, मैं पागल नही हूँ। मैं केवल कालके पृष्ठोपर लिखा हुआ भवितव्यका लेख पढे जाता हूँ, जिसके वर्णोंका आपको परिचय नहीं है। सावधान! मै केवल इतना ही कहे जाता हूँ और कुछ नही कहता।

---

## पाँचवाँ दृश्य

**स्थान**—बंगदेशकी राजसभा। **समय**—सबेरा।

[ महाराज सिंहबाहुका हाथ पकड़कर विजयसिंह उन्हे सिंहासनपर बैठाते हैं।

विजय०—महाराज, आप आपने सिंहासनपर बैठिए। मैंने बंगालके सिंहासनपर अधिकार करनेके लिए यह युद्ध नही किया था। मैं सिंहासन नही चाहता। मैं केवल आपके हृदयका सिंहासन चाहता हूँ। वह सिंहासन मेरा है। उससे मुझे कोई वंचित न कर सके—स्वयं महाराज भी वंचित न कर सके।

सिंह०—विजय, तुम इस तरहका दावा करते हो! तुम्हारे दम्भपर हमे आश्चर्य होता है। अब भी वही गर्वपूर्ण दृष्टि! तनी हुई छाती! ऊपर उठा हुआ सिर!

विजय०—आखिर तो मैं आपका ही पुत्र हूँ।

सिंह०—हमारे पुत्र हो! खूब!

विजय०—हाँ, आपका ही पुत्र हूँ। नहीं तो इन हाथोंमे इतना बल कहाँसे आया? हृदयमे इतना अभिमान, इतना स्नेह कहाँसे आया? यदि मैं आपका पुत्र न होता तो राज्यका हर्त्ता-कर्त्ता बनकर फिर वह राज्य आपके चरणोंमे दान कर देता और आपसे इस तरह स्नेहकी भिक्षा माँगता?

सिंह०—दान! विजयसिंह! हम इसी समय सिंहासन छोड देते है। अगर हो सकेगा तो अपने बाहुबलसे इसका उद्धार करेंगे। नहीं तो जंगलमें जा रहेंगे। पुत्रका दान!

विजय०—यह पुत्रका अर्घ्य है। महाराज, सिंहासनपर बैठे रहें।

सिंह०—कभी नहीं।

विजय०—( हाथ जोड़कर ) मै प्रार्थना करता हूँ ।

सिंह०—सिंहवाहु अपने पुत्रका दान लेगे ?

विजय०—पिता अपने पुत्रका अर्घ्य पैरोसे नहीं ठुकराते ।

सिंह०—इससे पहले मर जाना अच्छा है । दान !

विजय०—महाराज, क्या पुत्रका दान तुच्छ होता है ? पिता अपने पुत्रको जो जन्म-दान करता है, बाल्यावस्थामें उसे जो अन्न और वस्त्र दान करता है, स्नेह दान करता है, शिक्षा दान करता है, क्या वह सब पुत्र भिक्षा-दानकी तरह ग्रहण करता है ? क्या वह सब उसका हक नहीं है ? और फिर जब पुत्र अपने वृद्ध मरणोन्मुख पिताको आहार, आश्रय, शक्ति और भक्ति दान करता है, तब वह भी क्या भिक्षा-दान होता है ? यह सब अदल-बदल प्रकृतिकी समताके लिए होता है । महाराज, देवता लोग जिस प्रकार भक्तकी पुष्पाजलि ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार आप भी पुत्रका यह दान ग्रहण करे । सिंहासन-पर बैठे ।

सिंह०—लेकिन इससे पहले तुम इस बातकी प्रतिज्ञा करो कि हमारी आज्ञाको तुम राजाकी आज्ञाकी तरह ग्रहण करोगे ।

विजय०—अवश्य । जिस आज्ञाको मैं सदासे शिरोधार्य्य करता आया हूँ, हृदयमे धारण करता आया हूँ, आज क्या शरीरके पट्ठोमे बल और रक्तमें तेज आजानेके कारण मैं उसका निरादर करूँगा ? मैं सदा ही आपकी प्रजा, सदा ही आपका पुत्र और सदा ही आपका सेवक रहूँगा ।

सिंह०—तब सुनो विजयसिंह, तुमपर जो भयंकर अभियोग लगाया गया है हम तुमसे उसकी कैफियत चाहते है ।

विजय०—किस बातकी कैफियत महाराज !

सिंह०—तुम्हे हमने दण्ड दिया था, पर तुम कारागारसे निकल भागे। इसके सिवा इसी राज्यकी प्रजा होकर भी इस राज्यके राजाके विरुद्ध कलिंग-देशके पंगुपालको लाकर तुमने विद्रोह किया और राज्यपर आक्रमण किया। यह बड़ा भारी अपराध है। हम इसका उत्तर चाहते है।

विजय०—हॉ, मै इसका उत्तर दूँगा। लेकिन उत्तर देनेसे पहले पुत्र एक बार पिताजीसे भेट करनेकी भिक्षा मॉगता है।

सिंह०—इसका क्या मतलब ?

विजय०—इसका मतलब यही है कि महाराज अपने मंत्री, सेवको तथा परिपदोको पहले विदा कर दे और यहीपर एकान्तमे एक बार पिता और पुत्रकी भेट हो। हाथ जोड़कर आपको महाराज कहनेसे पहले एक बार आपके गलेसे लिपटकर आपके गालपर अपना गाल रखकर मै आपको 'पिताजी' कहूँ। मै यह समझ लूँ कि आपके प्राणोपर मेरा राज्य—मेरा अधिकार है। एक बार आपके कलेजेसे लगकर अपने दिलका हौसला निकाल लूँ, आपकी गोदमे मुँह छिपाकर रो लूँ, तब मै इसका उत्तर दूँगा।

सिंह०—पाखण्डी कहींका—

विजय०—नहीं, मै पाखण्डी नही हूँ। मै उद्दण्ड हो सकता हूँ, मूर्ख हो सकता हूँ, हत्यारा हो सकता हूँ; पर मै पाखण्डी नही हूँ। महाराज, आपपर मेरा बहुत अधिक प्रेम है।

सिंह०—हॉ हॉ, क्यो नही। इसका तो तुमने पूरा पूरा प्रमाण ही दे दिया है। अब तुम उत्तर दो। राजद्रोह बड़ा भारी अपराध है।

विजय०—मै यह भारी अपराध स्वीकृत करता हूँ।

सिंह०—तब फिर ?

विजय०—मै महाराजसे क्षमा मॉगता हूँ।

सिंह०—क्षमा ! राजके न्याय-विचारमे क्षमा नहीं है ।

विजय०—तब फिर महाराज, किसके न्याय-विचारमें क्षमा होती है ? अशक्तकी क्षमाका मूल्य ही क्या है ? जो अत्याचारका बदला ही नही ले सकता, वह चाहे क्षमा करे या न करे, उससे संसारका बनता बिगड़ता ही क्या है ? जो दण्ड दे सकता है, जो अत्याचारीके पदाघातका बदला उसी अत्याचारीके रक्तसे धोकर चुका सकता है, वह यदि क्षमा करे तब बात है । वही क्षमाकी आवश्यकता है—वहीं क्षमाका माहात्म्य है । महाराज, जिस समय आप कारागारमे थे और आपके हाथ-पैर हथकड़ी-बेड़ीसे बँधे हुए थे, तब मैंने आपसे क्षमा नहीं मॉगी थी। पर महाराज अब फिर बंगालके राजसिंहासनपर आ गए है, अब यदि आप चाहे तो मेरा सिर काटनेकी आज्ञा दे सकते हैं । यहीं तो महाराजके क्षमा करनेका समय है ।

सब लोग—साधु विजयसिंह ! साधु !

सिंह०—विजयसिंह, हम क्षमा करना नहीं जानते । हमने पहले ही तुम्हे प्राण-दण्ड दिया था । लेकिन अब हम तुम्हें वह दण्ड नहीं देते। अब हम तुम्हे अपने देशसे सदाके लिए निकल जानेका दण्ड देते है ।

विजयसिंह०—पिताजी, मैं आपका दण्ड शिरोधार्य्य करता हूँ । अब महाराजके राज्यमे कोई विजयसिंहका नाम भी न सुनेगा । मै आपको और देशको छोड़कर जाता हूँ, सदाके लिए जाता हूँ—पर एक वार आप फिर मुझे उसी तरह ‘ विजय ’ कहकर पुकारे, जिस तरह पहले पुकारते थे । एक वार—पिताजी,—बस एक वार—

सिंह०—दूर हो पाखण्डी ।

विजय०—पिताजी ! ( पैर पकड़ लेते है ! )

सिंह०—हम तुम्हारा मुँह नही देखना चाहते । दूर हो जाओ।

( लात मारकर चले जाते हैं । )

विजय०—ओह! यहाँ तक! महारानी! अन्तमे तुम्हारी ही जीत-हुई—मैं हार गया। ओह! मेरी कैसी हार हुई ! मैंने पिताजीसे स्नेह-भिक्षा की—उन्होने मुझे लात मार दी ! मेरे अगाध स्नेहका यही प्रतिफल है–हे जगदीश! तुमने मेरे इस हृदयमें इतना स्नेह ही क्यो दिया था ? पिताजीका लात मारना ! ओह सारे शरीरमे आग लग गई है, सिर घूमता है !—मेरी कैसी हार हुई ! ऊः—भगवति वसुन्धरे! तुम फट जाओ । हैं सिर क्यो घूमता है !—यह क्या !

( मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं । )

उरुवेल—युवराज ! युवराज !—अनुरोध, जल्दी पानी लाओ ।

( अनुरोधका प्रस्थान )

विजित—युवराज !

( जल लेकर अनुरोधका आना )

वि०—( मुँहपर जल छिड़ककर ) युवराज !

[ भैरवका प्रवेश ]

भै०—कहाँ है ? हमारे विजयसिंह कहाँ है ?

विजित—बेहोश पड़े हैं ।

भै०—बेहोश हो गए है ? विजय—भइया !

विजय०—पिताजी ! पिताजी ! ( चारो ओर देखकर ) पिताजी कहाँ है ?

भै०—पिताजी ! तुम्हारे पिताजी कहाँ हैं ? तुम्हारे भाई है

पिता नही है! तुम हमारे भइया हो, हम तुम्हारे भइया हैं। संसारमे पिता कोई नही है।

विजय०—(उठकर) भैरव, तुमने क्यो आकर मुझे भइया कहकर पुकारा? मेरा ऐसा अच्छा सुख-स्वप्न टूट गया! देखता था कि पिताजी स्नेह-गद्गद स्वरसे मुझे 'बेटा' कहकर बुला रहे है, स्वर्गमें मानों वीणा बज उठी, मर्त्यलोकमे स्वर्गका प्रकाश फैल गया! उसके बाद,—

विजय०—विजय!

भै०—भइया, तुम वीर हो। इतना अधीर होना क्या तुम्हे शोभा देता है?

वि०—नही भैरव, अब मै देश छोड़कर जा रहा हूँ। मेरे देश! प्यारी जन्मभूमि! अब केवल तुम्हीं मेरी माता हो। तुम्हे भी छोड़ जाना पड़ा!—अच्छा, माता! मुझे आज्ञा दो। व्यर्थ ही तुमने अपने दुरन्त पुत्रको अपना आकाश, अपनी वायु, अपने फल-मूल, अपना मीठा रस देकर मनुष्य बनाया था। मै कुछ भी न कर सका। आज मै पिता-माता-हीन, गृह-हीन और लक्ष्यहीन हूँ। मेरा कोई नहीं है। मुझे आज्ञा दो माता!

भै०—विजय, तुम देश क्यो छोड़ोगे? बाहर दरवाजेपर पाँच हजार तलवारें तुम्हारे एक इशारेका आसरा देख रही है। बोलो—आज्ञा दो, अभी इस राज्यमें उथल-पुथल मचा देता हूँ, इसे धूलमे मिला देता हूँ। अभी उसके पागल राजाको कैद कर लेता हूँ। तुम फिरसे नया राज्य स्थापित करो। विजय, तुम देश क्यों छोड़ोगे?

विजय०—नही भैरव, पिता साक्षात् देवता है।

विजित०—ऐसे ही पिता?

विजय०—विजित, सन्तान पिताको नही चुन ले सकती। चलो विजित, राज्य छोड़कर चले।

भै०—राज्य छोड़कर क्यो जाओगे भइया? आओ, मैं तुम्हे अपनी फूसकी झोपड़ीमे ले जाकर रक्खूँगा—किसीको पता भी न लगेगा। अपनी छातीमें छुपाकर रक्खूँगा—किसीको खबर भी नहीं होगी।

विजय०—नहीं भैरव, पिता साक्षात् देवता होते हैं। मै देश छोड़कर चला जाऊँगा। भाइयो, मै बिदा होता हूँ।

विजित०—बिदा होते है? नहीं भइया, आप न जायँ। यदि आप यहॉ न रहना चाहें तो मैं आपको नही छोड़ूँगा। आप जहॉ जायँगे, वहॉ मै भी आपके साथ चलूँगा।

विरूपाक्ष—मैं भी आपको नहीं छोड़ूँगा।

विशालाक्ष—हम लोगोंमेसे कोई भी आपको नहीं छोडेगा।

विजय०—मेरे संग चलोगे?

विशा०—हॉ चलेगे।

विजय०—जानते हो मै कहा जाऊँगा?

विशा०—आप चाहे जहॉ जायँ, हम लोग साथ चलेंगे।

विजय०—मैं जहॉ जा रहा हूँ वहॉ न तो मनुष्य हैं, न आनन्द है और न मृत्युका भय है। जहॉ न तो कोई हॅसता है, न कोई रोता है और न कोई प्रेम करता है। ओह! संसारमे भी कितना भारी भ्रम फैला है! शक्तिका कितना अधिक अपचय होता है! ससारमे किसका विश्वास किया जाय? जहॉ पिता लड़केको लात मारते हैं—और उस लड़केको जो पिताके स्नेहके लिए पागल है! संसारमे सब चोर है। सब लोग पर्वतके समान स्वार्थी, समुद्रके समान स्वेच्छाचारी, आकाशके समान उदासीन और ईश्वरके समान कठोर हैं। यहॉ न्याय, ममता, भक्ति, विश्वास कुछ भी नहीं है। अच्छा तो चलो सब लोग, समुद्रमे नावको छोड दें।

---

## छठा दृश्य

स्थान—बंगालका राजमहल

[ सुरमा और लीला ]

सुर०—बहन, कुछ सुना ?

ली०—हाँ बहन, सुना।

सुर०—देशसे सदाके लिए निकाल दिए गए। इतना भारी दण्ड !—

ली०—तो फिर इसमें अन्याय ही क्या हुआ ? उन्होंने विद्रोह किया था, महाराजने विद्रोहीको दण्ड दिया। इसमे अन्याय तो कुछ भी नहीं हुआ।

सुर०—है, यह तुम क्या कह रही हो ?—इतने स्नेहके बदलेमे—

ली०—राजाके न्याय-विचारमें स्नेहके लिए स्थान नहीं होता—पात्रापात्रका भेद नहीं होता। इसीको तो न्याय-विचार कहते है।

सुर०—तो क्या तुम इससे बहुत सन्तुष्ट हुई हो ?

ली०—अत्यन्त। इतनी सन्तुष्ट हुई कि इस समय यदि युवराजकी स्त्रीके नाचनेकी प्रथा होती, तो मै नाचती।

सुर०—तुमने तो एक बार कहा था कि जबतक तुम उनके पास रहोगी, तबतक कोई उनका कुछ भी न कर सकेगा।

ली०—हाँ, कहा तो था।

सुर०—लेकिन इस निर्वासनके दण्डसे तो तुम उन्हे नहीं बचा सकीं।

ली०—हाँ, बचा तो नहीं सकी। लेकिन मैने यह तो नहीं कहा था कि कोई उन्हे निर्वासित ही नहीं कर सकेगा। मैंने तो यह कहा था कि कोई उन्हे पकड़कर न रख सकेगा। सो कोई उन्हे पकड़कर रख सका ?

सुर०—मालूम होता है कि इस निर्वासन-दण्डसे तुम बहुत प्रसन्न हुई हो।

ली०—हॉ प्रसन्न ही तो हुई हूँ ।

सुर०—यह निर्वासनका दण्ड क्या अच्छा हुआ है ?

ली०—इसमे बुरा ही क्या हुआ ?

सुर०—मै अभीतक तुम्हे न पहचान सकी । ( जाती है । )

ली०—कल पहचानोगी ।

सुर०—कैसी विलक्षण प्रकृति है !

[ सुमित्रका प्रवेश । ]

सुमि०—बहन, भइया कहॉ है ?

सुर०—वे तो देश छोड़कर जा रहे है ।

सुमि०—कहॉ ?

सुर०—मालूम नही । सुमित्र, कलसे भइया फिर तुम्हे कभी इस देशमे दिखाई न पड़ेगे । वे ऐसे यहॉसे चले जायँगे कि मानो कभी यहॉ थे ही नही ।

सुमि०—मै भी उनके साथ जाऊँगा !

सुर०—बेचारा अबोध बालक यह नही जानता कि मुझको ही राजा बनानेके लिए ये सब उपाय हो रहे है ।

सुमि०—यदि भइया यहॉसे चले जायँगे, तो मै यहॉका राजा न होऊँगा । मैं मॉसे जाकर कहता हूँ । ( जाना चाहता है । )

सुर०—मानो तुम्हारी मॉ यह बात सुन ही तो लेगी !

सुमि०—उन्हे सुनना ही पड़ेगा । साफ बात तो यह है बहन कि मै मॉसे भइयाको ज्यादा चाहता हूँ ।

सुर०—लो यह पिताजी और विमाता आ रही है । सुनूँ, क्या सलाह करते है ।

[ सिंहबाहु और रानीका प्रवेश । ]

सिंह०—हम पहलेसे ही जानते थे !

रानी०—वह विद्रोह कर सकते है ।

सिंह०—हॉ हॉ कर सकते है । कोई आधीसी प्रजा तो बिगड़ ही उठी है ।

रानी०—तो क्या यही माऌम होता है कि वह विद्रोह करेगे ?

सिंह०—माऌम तो कुछ भी नही होता रानी !—पर इतना जरूर है कि ऑखे दिखानेसे हम नहीं डरते । लेकिन—

रानी०—लेकिन क्या ?

सिंह०—नही, वह बात जाने दो । जब दण्ड दे दिया तो दे दिया; जो होगा, देखा जायगा ।

[ विजयसिंहका प्रवेश ]

विजय०—महाराज, प्रणाम करता हूॅ ।

सिंह०—कौन विजय ?

विजय०—( आगे बढ़कर ) हॉं पिताजी, मै हूॅ ।

सिंह०—कब जाओगे ?

विजय०—अभी, इसी समय । जहाज तैयार है । (जाना चाहते है ।)

सुमि०—भइया, मै आपको नहीं जाने दूॅगा । ( सुमित्र रास्ता रोकता है ) विजयसिंह चले जाते है ।

सुर०—पिताजी, यह आपने क्या किया ?

सिंह०—क्यो, क्या किया ?

सुर०—यह निर्वासनका दण्ड न दीजिए ।

सिंह०—यह दण्ड न दूॅ ?

सुमि०—भइयाको बुला लीजिए । नही तो—

सुर०—भइया अभीतक इसी देशमे है । कल सन्ध्याको फिर आप उन्हे ढूॅढनेपर भी न पाऍगे । अब भी समय है । यह दण्ड न दीजिए ।

सिंह०—अब भी समय है !

रानी—क्या कह रही हो सुरमा ? यह न्याय-विचारकी बात है पिता-पुत्रकी कलह नहीं है। यहाँसे चली जाओ।

सुर०—कल लाख सिर पटकनेपर भी भइया आपको नहीं मिलेंगे वे बड़े अभिमानी है। अब वे नही लौटेंगे। जन्मभर रोना पड़ेगा जन्मभर पछताना पड़ेगा। जन्मभर—

रानी—लड़की, तू चली जा।

सुर०—माँ, तुम राज्य ले लो, राजमहल ले लो, स्वर्ग ले लो भइयाको लौटा दो। वे राज्य नहीं चाहते।

रानी—यहाँसे हट जाओ उद्धत लड़की !

सुर०—पिताजी !

सिंह०—( धीरेसे ) जाओ।—आओ, इस ओर चले।

(सुमित्रका हाथ पकडकर धीरे धीरे जाते हैं। रानी उनके पीछे पीछे जाती है।

सुर०—( घुटने टेककर ) परमेश्वर ! दयामय ! भइयाको लौट मँगाओ। भइयाको लौटा मँगाओ।

[ बालकके वेशमे लीलाका प्रवेश। ]

ली०—अब देखो, मै कैसी मालूम होती हूँ !

सुर०—है ! यह क्या ?

ली०—क्यो कैसी मालूम होती हूँ ?

सुर०—लीला, यह क्या तुम्हारे लड़कपन करनेका समय है ?

ली०—आओ बहन, तुमसे एक बात कहना है।

---

## सातवाँ दृश्य

**स्थान**—विजयसिंहका शिविर। **समय**—सवेरा।

[ विजित, उरुवेल और अनुरोध। ]

विजित—महाराजने भइयाको देशसे निकाल दिया है।

उरु०—हाँ, युवराज।

विजित—क्या आफत है! इस परिवारके सभी लोग पागल है।

अनु०—कुमारने महाराजके पैर पकड़कर क्षमा माँगी थी।

विजित—कुमार विजयसिंहने?

अनु०—हाँ, युवराज।

विजित—कुछ समझमे नहीं आता!—इतने गर्वी, इतने अभिमानी पुत्र—

अनु०—उस समय सभामें एक आदमी भी ऐसा नहीं था जो कुमारकी इस अश्रु-गद्गद प्रार्थनापर रो न पड़ा हो।

विजित—अब वे क्या करेंगे?

उरु०—वे देश छोड़कर चले जायँगे।

विजित—कहाँ जायँगे?

उरु०—मालूम नहीं।

विजित—कब जायँगे?

उरु०—आज ही।

विजित—उनका दिमाग खराब हो गया है।

अनु०—लेकिन प्रजा उन्हे नहीं जाने देना चाहती।

विजित—वह क्या कहती है?

अनु०—कहती है कि हम विद्रोह करेंगे। वह कहती है कि बंगालके महाराज सिंहबाहु नहीं हैं। बंगालके महाराज कुमार विजयसिंह है।

विजित—इसपर विजयसिंह भी कुछ कहते है ?

अनु०—कुमार सबको समझाते है।

विजित—उनका दिमाग़ खराब हो गया है।

अनु०—शायद कुमार आ रहे है।

विजित—हॉ, उन्हीकी तो आवाज है।

अनु०—साथमे बहुतसे लोग हैं। कुमार उन्हे समझा रहे है।

विजित—लो, आ ही गए।

[ विजयसिंहका प्रवेश ]

विजय०—लो विजित भी मिल गए!

विजित—भइया, क्या आप देश छोड़कर जा रहे है ?

विजय०—हॉ विजित।

विजित—आप पागल हो गए है ?

विजय०—क्यो ? महाराजने मुझे निर्वासनका दण्ड दिया है। अब देशमे रहनेका मुझे अधिकार ही क्या है ?

विजित०—जब महाराज अपनी रानीके अधीन है, तब वे महाराज नही है।

विजय०—लेकिन वे पिता तो है।

विजित—वही पिता जिन्होने ऐसे स्नेहमय पुत्रका त्याग कर दिया!

विजय०—पिता सदा ही पिता है।

[ बालकके वेशमें लीलाका प्रवेश ]

विजित—तुम कौन हो!

बालक—मै एक पिता-माता-हीन बालक हूँ।

विजय०—क्या चाहते हो ?

बालक—नौकरी।

विजय०—तुम नौकरी करोगे ?

वा०—जब कोई और उपाय नहीं है, तब नौकरी ही करूँगा।

विजय०—किसकी नौकरी करोगे?

वा०—समझ लीजिए कि आपकी ही।

विजय०—बतलाओ तो मैं कौन हूँ?

वा०—मनुष्य। और इससे ज्यादाकी मुझे जरूरत भी नहीं है। यदि आप इससे कुछ भी कम होते, तो मै आपकी नौकरी न करता। आप आदमी ही है न?

विजय०—नहीं, मै बहुत ही अभागा हूँ।

वा०—मै भी अभागा ही हूँ। इस लिए आपके ही यहाँ मेरा निर्वाह होगा।

विजय०—तुम इस उम्रमे नौकरी करने निकले हो?

वा०—जी हाँ।

विजय०—तुम्हे क्या आता है?

वा०—मुझे एक ऐसी विद्या आती है जिससे आप बिना खुश हुए रही नहीं सकते। विद्या क्या है, बिलकुल ब्रह्मास्त्र है।

विजित—वाह! भला वह कौनसी विद्या है?

वालक—खुशामद।

विजित—तुम खुशामद कर सकते हो?

वा०—खूब अच्छी तरह।

विजित—जरा नमूना तो दिखाओ।

वा०—अच्छा। पहले तो आप यह समझ लीजिए कि आप देखनेमें बहुत ही श्रीहीन—

विजित—बहुत ही श्रीहीन!

वा०—हाँ, बहुत ही श्रीहीन।

विजित—कौन कहता है ?

बा०—सभी लोग कहेगे ।

विजित—बस, मालूम होता है कि तुम इसी तरह खुशामद करोगे।

बा०—पहले पूरी बात तो सुन लीजिए । आप तो खूब है महाशय ! सभ्य व्यवहार नही जानते ?

विजित—वाह, खूब खुशामद की !

बा०—हॉ हॉ, मै बहुत अच्छी तरह खुशामद कर सकता हूँ। आप कविता करते है ?

विजित—हॉ, करते है ।

बा०—लेकिन वह कविता कुछ होती नही ।

विजित—यह तुमने कैसे जाना ?

बा०—आपके चेहरेसे ही मालूम पड़ता है। ऐसे चेहरेसे कहीं कविता होती है ?

विजित—ऐसे चेहरेसे शायद कविता नही हो सकती ?

बा०—अच्छा, जब आप युद्ध करते है तब तलवार किस तरफसे पकड़ते है ?

विजित—कबजेकी तरफसे ।

बा०—इसमे तो कोई विशेषता नही हुई। प्रतिभाका कोई लक्षण नहीं पाया जाता।

विजित—क्यो ?

बा०—तलवारका कबजा तो सभी लोग पकड़ते हैं। हॉ, और जब आप लिखते है तब कलमके किस ओरसे लिखते है ?

विजित—आगेकी ओरसे ।

बा०—जिधरसे उसे स्याहीमे डुबाते है ?

विजित—हाँ ।

बा०—इसमे भी कोई विशेषता नहीं हुई । इस तरह आप बहुत ही साधारण आदमी ठहरे । आपमे कोई गुण न निकला । अब देखिए कि मैं खुशामद करके आपको कितना बढा देता हूँ । यदि मै कहूँ कि आप देखनेमें बड़े ही सुन्दर है, तो आप किसी प्रकार विश्वास न करेंगे। चटसे कह बैठेंगे किं इसका कोई मतलब होगा । आप जानते है कि मैं इस बातको किस तरह शुरू करूँगा ?

विजित—किस तरह ?

बा०—पहले तो मैं बराबर आपके मुँहकी ओर देखता रहूँगा और जब आप मेरी ओर देखने लगेगे तब मैं अपनी आँखें नीचे कर लूँगा । इसके बाद, किसी आदमीसे आपके सामने यह कहलाना होगा कि मैं कहता था कि आप देखनेमे बिलकुल नवकार्तिकेय माळूम होते है । इस प्रकारके जितने ही उत्तरसाधक मैं एकत्र कर सकूँगा मेरी उतनी ही जीत होगी ।

विजित—ये कौन लोग आ रहे है ?

विजय०—वे सब लोग फिर आ रहे है ।

[ प्रजावर्गका प्रवेश ]

विजित—ये लोग कौन हैं ?

विजय—राज्यकी प्रजा ।

पहला आदमी—आप चाहे जो कहे, पर हम लोग आपको नहीं छोड़ेगे ।

दू० आ०—हम लोगोंको छोडकर आप कहाँ जायँगे ?

ती० आ०—आप यहीं रहिए । देखे तो कौन आपको देशसे निकालता है !

विजय०—भाइयो—

चौ० आ०—हम लोग आपको नहीं छोड़ेंगे।

पाँ० आ०—आप जायँगे कहाँ?

दू० आ०—हम आपको राजा बनावेंगे।

पह० आ०—आप ही बंगालके महाराज हैं। हम और किसीको राजा नहीं मानते।

विजय०—भाइयो, पिताजीकी आज्ञा—

ती० आ०—हम कुछ नहीं जानते।

चौ० आ०—हम लोग आपको नहीं जाने देंगे। साफ बात है।

विजय०—महाराजकी आज्ञा है—

पाँ० आ०—हमारे महाराज आप ही हैं। हम और कोई राजा नहीं जानते।

सब लोग—जय! महाराज विजयसिंहकी जय!

विजय०—भाइयो, पहले मेरी बात सुन लो। इसके बाद जो कुछ तुम लोगोंके मनमें आवे सो करो।

पाँ० आ०—अच्छा कहिए।

विजय०—भाइयो, भगवान् रामचंद्र पिताकी आज्ञासे बन गए थे। पुरुने अपने पिताका बुढ़ापा स्वयं ले लिया था। पिताकी आज्ञा चाहे न्यायपूर्ण हो और चाहे अन्यायपूर्ण, पुत्रको उसपर विचार करनेका अधिकार नहीं है। पुत्रको पिताकी आज्ञाके सामने सिर ही झुकाना पड़ेगा। यही संसारका नियम है। पुत्र जिस दिन पिताका न्याय करने बैठेगा, उस दिन सूर्य्य पश्चिममें उगने लगेगा, संसार उलट जायगा, मनुष्य फिर पशुत्वकी ओर बढ़ेगा, घरमें अशान्ति और राज्यमें अराजकता फैल जायगी, संसारमें उच्छृंखल अहंकार छा जायगा। पिता परम गुरु है। जो हमें इस सुन्दर संसारमें लाए हैं, जिनके कारण हम

यह नील आकाश, प्रभातकी यह अरुण छटा, मनुष्यका स्वर्गीय मुख-मडल देखनेके योग्य हुए है, जिनकी कृपासे हमने माताके मधुर स्नेहका अनुभव किया है, जो बाल्यावस्थामे पालक, यौवनमें शिक्षक, दुःखमे बन्धु, पीड़ामें वैद्य, विपदमे सहायक और दीनतामे आश्रय होते है और वृद्धावस्थामे जिनका स्नेहपूर्ण मुख फिर देखनेको नहीं मिलता, वे जितने दिनोंतक है—चाहे वे पागल हों और चाहे मत्त हो—उतने दिनोंतक वे परम गुरु हैं, उनकी आज्ञा ईश्वरकी आज्ञा है। मै पिताकी आज्ञाका पालन करूँगा। उस आज्ञा-पालनमें यदि मेरी आँखोमें जल आ जाय, तो मैं रो-रोकर अपने ऑसुओंसे पृथ्वीको डुबा दूँगा। अगर कलेजा टुकड़े टुकड़े हो जाय तो हो जाय। मैं पिताकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करूँगा। करनेसे पाप होगा। और तुम लोग यदि मुझसे पिताकी आज्ञाके उल्लंघन करनेके लिए कहोगे, तो तुम लोगोको भी पाप होगा।

पह० आ०—युवराज, आप ठीक कहते है। पाप होगा। जरूर पाप होगा।

दू० आ०—तब फिर हम लोग देश छोड़कर आपके साथ चलेंगे।

विजय०—यह क्या ?

ती० आ०—हम लोग आपको छोड़ेंगे नहीं।

विजय०—तुम लोग कहॉ जाओगे ?

चौ० आ०—महाराज, आप जहॉ जायँगे।

विजय०—मै महाराज नहीं हूँ।

चौ० आ०—हम लोग और किसीको राजा नहीं मानते। यहॉ न हो, तो चलिए और कहीं चले चले। वहॉ नया राज्य खड़ा करेंगे और आपको वहाँका राजा बनाएँगे।

विजय०—किन्तु—

पॉ० आ०—हम लोग नही सुनेगे। कोई बात नही सुनेगे। हम भी आपके साथ जायँगे महाराज !

विजय०—विजित, तुम इन लोगोको समझाओ।

विजित—हम समझते है, हम भी आपके साथ जायँगे।

विजय०—सो क्यो ?

अनुरोध और उरुवेल—हम लोग भी चलेगे।

विजय०—तुम सब लोग क्या कह रहे हो ?

बा०—युवराज, आप इन लोगोकी बातोमे न पड़िएगा। इन लोगोने यह षड्‌यंत्र किया है।

सब लोग—हम लोग आपको नही छोड़ेगे। आपके साथ चलेगे।

बा०—पर यदि तुम लोगोकी स्त्रियॉ भी यही हठ कर बैठे कि हम तुमको नहीं छोड़ेगी—नही जाने देगी—तो ?

विजय०—बाल-बच्चोको छोड़कर ये लोग कैसे जायँगे ?

बा०—हॉ, यदि युवराज अपनी स्त्रीका कोई ध्यान नही रखते, तो तुम लोग तो अपनी अपनी स्त्रियोका ध्यान रखते हो।

पह० आ०—वे सब भी साथ चलेगी !

दू० आ०—हम लोग सपरिवार चलेगे।

बा०—यह बात बहुत अच्छी है। युवराज, अब आपत्ति करनेसे कुछ न होगा।

विजय०—अच्छा भाई चलो; लेकिन—

बा०—अब इसमे लेकिन-वेकिन कुछ नहीं।

विजित—आजतक यह कभी देखा या सुना नही था कि राज्यकी प्रजा युवराजके साथ इतना प्रेम करे! भइया, आप सचमुच महाराज

हैं। आप मनुष्योंके हृदय-राज्यके राजा है । इतना बडा राज्य और किसका है ?

वा०—अच्छा, तो आओ भाइयो, समुद्रमे जहाज छोड़ दे !

---

## आठवाँ दृश्य

स्थान—समुद्रका किनारा ।

सिंह०—वह देखो जहाज जा रहा है—विजय ! विजय ! लौट आओ बेटा !—लौट आओ ।

सुमित्र—भइया ! भइया !

( जहाज अदृश्य हो जाता है। )

# तीसरा अंक

## पहला दृश्य

**स्थान**—समुद्रमें जहाज जा रहा है।

**समय**—सबेरा।

[ जहाजपर कुवेणी अकेली खड़ी है। ]

कुवेणी—इस लहराते हुए समुद्रमे यह दिगन्त-विस्तृत क्षार-जल भरा हुआ है। प्रकृतिका कैसा घोर अपव्यय है! तौ भी—

[ मल्लाह आता है। ]

कुवेणी—क्यो जी, क्या हम लोग कुमारिका अन्तरीप पीछे छोड़ आए?

म०—कुछ समझमे नहीं आता।

कुवेणी—आखिर क्या माळूम होता है?

म०—पीछे तो नहीं छोड़ आ सकते। सेतुबन्धसे हम लोग बराबर उत्तरकी ओर चले आ रहे हैं। कुमारिकाको तो पीछे नहीं छोड़ आ सकते।

कुवेणी—तो फिर अबतक किनारा क्यो नहीं मिलता?

म०—कुछ समझमें नहीं आता। अब तो पीनेका पानी भी नहीं रह गया।

कुवेणी—क्यों जी, जो लोग उस पार रहते हैं, वे यक्ष है या राक्षस?

म०—नहीं, वे लोग मनुष्य है।

कुवेणी—मनुष्य? वे देखनेमे कैसे होते है?

म०—होते तो हम ही लोगोकी तरह हैं बेटी, पर उनके चेहरेमें कुछ फरक होता है।

कुवे०—अच्छा तो किनारेकी तरफ चलो, मै उन्हे देखूॅगी।

म०—हॉ, किनारेकी तरफ तो हम भी जाना चाहते है। लेकिन किनारा तो कही मिलता ही नही।

कुवे०—बादल घिरे आ रहे हैं।

म०—हाँ, माऌम होता है कि ऑधी आवेगी। (दूसरी ओर जाता है।)

कुवे०—हवा जोरोंसे चलने लगी। काले मेघोंकी छाया समुद्रपर पड़ रही है। वाह कैसा विराट्, कैसा भीम और कैसा सुन्दर दृश्य है! देखो, कैसी लहरे उठ रही हैं!—एक एक लहर एक एक छोटा पहाड़ जान पड़ती है।—और फिर वे उतर जाती हैं। कैसा भयंकर ताण्डव-नृत्य हो रहा है! अरे उसपार कौन है? ये मल्लाह लोग गा रहे है। उनके साथ मै भी गाऊॅ—

जोगिया—आसावरी।

**बोलो, कौन रहत उस पार।**
**इस वारिधिमें हमें नहीं कुछ सूझे वारापार॥**
**हाँ, सागरकी झनझन ध्वनि है उठती चारों ओर॥**
**फणा उठा अहिका श्वासासम वायु चली है घोर॥**
**बिजली चमक रही है, पावक खेल रहा चिनगार।**
**वज्रपातका भी रव होता, गिरती मूसलधार॥**
**बोलो, कौन रहत उस पार॥**

वाह! क्या गाना है! क्या सगीत है! हृदय नाच उठता है। "बोलो, कौन रहत उस पार?"—उत्तर दो!—है! यह क्या! सब मल्लाह चिल्लाने क्यों लगे?

[ मल्लाह फिर आता है। ]

कुवे०—क्या है? तुम लोग चिल्लाते क्यो थे?

म०—तुम क्यो चिल्ला रही थीं बेटी? क्या डर गई थीं?

कुवे०—डर? काहेका डर? क्या तुम लोग चिल्लाते नही थे?

म०—हैं यह क्या! जहाज घूमने क्यो लगा?

कुवे०—क्यो घूमने लगा?

म०—कुछ समझमे नहीं आता। शायद यह भँवरवाली आँधी है। अरे यह क्या हुआ?

कुवे०—क्या हुआ?

म०—हम लोग बीच समुद्रमे भँवरमे पड़ गए। माल्रूम होता है कि बस—अब न जाने भाग्यमे क्या लिखा है! (जल्दीसे जाता है।)

कुवे०—चारो ओर कैसी भयंकर तरंगे उठ रही है और ताण्डव नृत्य कर रही हैं! कैसी भीषण कल्लोले है! माल्रूम होता है कि शेषनाग अपने करोड़ो फण फैलाकर और उन्हे अपनी साँसोमे लपेटकर फुफकार रहे हैं।

[ मल्लाह फिर आता है। ]

म०—राजकुमारी बेटी!

कुवे०—क्या है?

म०—माल्रूम होता है कि अब हम लोग नही बचेंगे। भगवानका नाम लो। जो इस अनन्त समुद्रका कर्णधार है उसीको याद करो।

कुवे०—उसीको तो मैं भी बुला रही थी।

म०—किसको?

कुवे०—जो उस पार है उसको। उसको पुकारती थी—यदि उस-पारसे कोई उत्तर दे।

म०—उधरसे कौन उत्तर देगा?

कुवे०—यदि कोई दे। यदि कोई उत्तर देता तो कैसी अच्छी बात होती! इधरसे उधर आवाज देते है, उधरसे इधर आवाज देते हैं और

बीचमेंसे भयंकर तरंगें चली जाती है ! दोनो तरफके लोग एक दूसरेकी बात सुनते हैं लेकिन कोई एक पैर आगे नही बढ़ सकता। तुम्हे याद है, एक दिन मैंने और आवाज दी थी ? उस दिन इस पारसे आवाज दी थी—

[ नेपथ्यमे मल्लाहोंका चिल्लाना ]

म०—लो वे फिर चिल्लाये ! मै जाता हूँ ! ( जाता है । )

कुवे०—उस पार कौन हो जी,—मै आज समुद्रके बीचमेंसे बुला रही हूँ। इस अन्धकारमे, इस अथाहमे, इस तटहीनमे, इस विपत्तिमें, समुद्रके इस भयकर गर्जनमे, मृत्युके समान परित्यक्त इस भीपण एकान्तमें, मै आवाज देती हूँ कि उस पार कौन हो जी ? उत्तर दो ।

म०—नाव डूबती है बेटी !

कुवे—यदि डूबती है, तो डूबने दो ।

म०—अब मरे ! मौत सामने खडी है !

कुवे०—अच्छी बात है ! यही तो मैं चाहती हूँ ! कुवेणी कही एक साधारण बलिकाकी तरह घरमे बिछौनेपर पडी पडी छोटी, तुच्छ और साधारण मौत मरेगी ? उससे बढ़कर इस उदार आकाशके नीचे, उदार समुद्रकी छातीपर, इस प्रकाण्ड-नृत्यमें हिलती-डुलती, यह प्रलय-संगीत सुनती सुनती और गीत गाती गाती मरेगी। मै भी गाऊँ—

**बोलो कौन रहत उस पार।**

**हम नव-पथिक बाट नहिं जानत, टेरत बारंबार ॥ बोलो० ॥**

उस पार कोई नहीं है । नही तो आवाज सुनते ही अवश्य आता ।

म०—मालूम होता है कि वह सामने एक और जहाज है। हॉ, जहाज ही तो है ।

कुवे०—तब तो उसने मेरी आवाज सुन ली। वह देखो आ रहा है। मुझे लेनेके लिए मेरा वर आ रहा है। अवश्य वह मेरा वर ही है ।—

गलेमे माला, हाथमे माला, चन्दन-चर्चित ललाट, पीली पोशाक, नूपुर-झंकार—बस मेरा वर आ रहा है।

म०—और थोड़ा पास। और थोड़ा पास।

( नेपथ्यमे मल्लाह )—और सँभालके और सँभालके।

म०—नाव डूब रही है—और थोड़ा इधर और थोड़ा इधर।

कुवे०—यही है! यही है! यही मेरा वर है। वह जहाजके मस्तूलपर खड़ा हुआ चारों ओर देख रहा है। देख लिया, इधर देख लिया, अब डर नहीं है। वर आ गया वर आ गया। बाजे बजाओ—

( नेपथ्यमे )—और सँभालके, और सँभालके।

दूरसे विजय०—अब डर नहीं है—

कुवे०—बस मेरा वर आ गया! मैने उसकी आवाज सुन ली।

( जहाज परसे कूद पड़ती है। )

म०—अरे बेटी, यह क्या किया!

( दूसरे जहाज परसे विजयसिंह समुद्रमे कूद पड़ते हैं। )

---

## दूसरा दृश्य
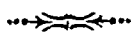
**स्थान**—समुद्रमे विजयका जहाज।

**समय**—सबेरा।

[ उरुवेल अकेले खडे हैं। ]

उरु०—आँधीका जोर खूब बढ़ रहा है। उसने सारे समुद्रको खलबला दिया है। अब रक्षा नही है, चारो ओर बादल घिर रहे है—ओह!

[ अनुरोधका प्रवेश। ]

अनु०—उरुवेल! उरुवेल! विजयसिंह कहाँ है?

उरु०—अपने कमरेमे होगे।

अनु०—यहाँ तो नही है ।

उरु०—असम्भव ।

अनु०—नही, तुम्ही आकर देख लो ।

उरु०—तब क्या हुए?

अनु०—बहुत ढूँढा, कही नहीं मिलते ।

( दोनो जल्दीसे जाते है । )

[ विजित और बहुतसे सिपाही आते है । ]

विजित—कही नहीं मिले?

सिपाही—नहीं ।

विजित—खूब अच्छी तरह देखो । जहाजका कोना कोना देख डालो । यदि तब भी न मिले, तो जहाजका पेंदा चीरकर देखो । जिस तरह हो भइयाको लाओ ।

पह० सि०—सब जगह तो ढूँढ चुके । अब कहाँ ढूँढे?

विजित—जाओ ढूँढो । जो कहता हूँ सो करो । नही तो यह तलवार देखते हो?

सि०—आप तलवारका भय क्या दिखलाते हैं? ( तलवार खींचता है । )

दूसरे सैनिक—खबरदार! ( तलवार निकालते है । )

दू० सि०—साहब, हमने सब जगह ढूँढ डाला ।

विजित—सब जगह ढूँढ डाला, तो फिर मेरे साथ आओ, समुद्रके जलमें ढूँढे । ( तलवार फेककर जल्दीसे जाना चाहते हैं । ) है! यह तो भइयाकी आवाज मालूम होती है! यह तो समुद्रके जलमेसे आवाज आ रही है । गए, विजयसिंह समुद्रमें डूब गए । जिसे मेरे साथ जलमें कूदना हो वह आवे । ( पागलोकी तरह निकलते हैं । )

ती० सि०—गजब हो गया ! विजित पागल हो गए—पकड़ो, पकड़ो। ( पीछे दौड़ता है। )

चौ० सि०—यह महाराजकी आवाज सुनाई पड़ती है ! फिर सुनाई पड़ी ! यह क्या भूतोंकी-सी लीला है ! यह फिर आवाज आई—

[ विजितको पकड़े हुए अनुरोध और उरुवेलका प्रवेश। ]

अनु०—चित्तको शान्त कीजिए। इस अँधेरेमे, इस तूफानमे आप विजयको ढूँढनेके लिए समुद्रमे कूदने जा रहे है !

विजित—मैंने उनका स्वर सुना है—वे समुद्रके नीचेसे बुला रहे है ! यह सुनो, आवाज आती है ! मै उनकी रक्षा करूँगा, छोड़ दो। ( छुड़ानेकी चेष्टा करते हैं। )

उरु०—कैसा ज़ोरोका शब्द होता है ! कैसी भीषण आँधी है ! आजका प्रभात तो बिलकुल प्रलयका है। छिः ! आप बात तो सुनिए।

विजित—छोड़ो, डरपोक, कायर, विद्रोही ! सुनते नहीं हो ? इतने ज़ोरकी आवाज भी तुम्हे सुनाई नही पड़ती ?

( सब लोग चुपचाप कान लगाकर आवाज सुनते हैं। )

नेपथ्यमे—रस्सी फेको ! जल्दी—रस्सी फेको !

अनु०—हाँ, हाँ, यही तो—

उरु०—हाँ हाँ ! माझी ! ( प्रस्थानोद्यत ) चलो ! चलो !

( सब लोग जाते हैं। )

[ गीले कपड़ोंसे युक्त विजय और सैनिकोका प्रवेश। कन्धेपर एक बेहोश लड़की, जिसके कपड़े गीले हैं। ]

विजय०—भाइयो ! देखो, एक देहको बचा लाया हूँ। मगर मालूम होता है कि यह मर गई है।

सब लोग—कौन है यह ?

विजय०—ठहरो ! सुनो, इस बेचारीका जहाज डूब गया और उसके सब माझी भी डूब गए।

सब—है! क्या हुआ! क्या हुआ!

विजय०—ठहरो, शोर मत करो। पूरी बात सुनो। उस जहाजपरके लोगोमेसे सिर्फ यही लड़की बची है। मालूम नहीं कि जीती है या मर गई। तौ भी मैंने इसे समुद्रमेसे निकाला है। और किसीको मैं नहीं बचा सका।

विजित—तब आप इतनी देरतक—

विजय०—ठहरो, बतलाता हूँ। मैं मस्तूलपर चढ़कर समुद्रमे उथल-पथल मचाती हुई लहरोके घर्षणसे उठे हुए विद्युज्जालको देख रहा था और समुद्रका गम्भीर गर्जन सुन रहा था। उसी गर्जनमे मुझे किसी दुखियाकी चिल्लाहट सुनाई पडी। वह चिल्लानेकी आवाज दूरके एक जहाज परसे आ रही थी। मैने चटपट नीचे उतरकर चार माझियोको बुलाया और इस जहाजकी एक नाव लेकर मै उस जहाजकी तरफ चल पडा। लेकिन हमारी नाव अभी आधे ही रास्तेमें थी कि वह जहाज डूब गया। ऑखोके आगे ॲधेरा छा गया। समुद्र हम लोगोके चारो ओर झूमता, तालियॉ बजाता और अट्टहास करता था। इतनेमें हमारी नावमे कोई चीज आकर लगी। देखा तो यह स्त्री थी। मालूम न हुआ कि मर गई या जीती है।

( सब लोग उस स्त्रीको देखते हैं। )

एक आ०—जीती है।

दू० आ०—नहीं, मर गई।

विजित—नहीं, जीती है। यह देखो पलकें हिलती है।

विजय०—देखो, तुम सब लोग इसको होशमें लानेका प्रयत्न करो। मै इसे किसके भरोसे छोड जाऊँ ?

बालक—युवराज, इसे आप मेरे पास छोड़ जाइए। मै शुश्रूषा करके इसे बचा लूँगा। मेरे समान शुश्रूषा और कोई न कर सकेगा।

विजय०—तुम तो अभी बालक हो।

बा०—यह भी बालिका है। युवराज, आप जाइए। गीले कपड़े बदल आइए। तुम सब लोग भी जाओ।

विजय०—लेकिन—

बा०—युवराज, कोई चिन्ता नहीं है। आप मुझपर विश्वास कीजिए—जाइए।

(कुवेणी और बालकके सिवा सब लोग चले जाते हैं।)

बा०—यह तो बडी ही सुन्दरी—अपूर्व सुन्दरी है! घने-काले भीगे हुए बालोकी चोटी बटकी जटाके समान पीठपरसे होकर घुटनोके नीचेतक पहुँच रही है। शीशेके समान साफ और चमकता हुआ ललाट मानो नौकरोको मालिकके समान आज्ञा दे रहा है। बड़ी बडी ऑखें सन्ध्या समयके कमलके दलोके समान मुँदी हुई है। कौन कह सकता है कि इनके अन्दर कैसी दृष्टि छिपी हुई है! उठी हुई सीधी, लम्बी नाक। उसके नीचे होठोमे राजसी दर्पसे युक्त हास्य छिपा हुआ है। उसके नीचे ठोढी—मानो सुधा-पात्रके समान उस विगलित हास्यको ग्रहण करनेके लिए तैयार है। ऊँची और टेढी गर्दनसे इस समय भी अभिमान प्रकट हो रहा है। सिकुडे हुए गीले कपड़ोके नीचे इसका गोरा बदन उसी तरह सोया हुआ है, जिस तरह बादलोसे घिरा हुआ प्रातः-काल। यह लो, सूर्य्य निकल रहा है, उसकी स्वर्णमयी किरणे इस समुद्रपर पडने लगी। ऑखे उन्मीलित हो रही हैं। सूर्य्य निकल रहा है, अब क्या ये दोनो ऑखे बन्द रह सकती हैं?

कुवेणी—मैं कहॉ हूँ?

बालक—बहन, तुम डरो नही। यहॉ तुमपर कोई आपत्ति नही आ सकती।

कुवेणी—तुम कौन हो ?

बालक—चिन्ता मत करो। उठ सकती हो ?

( कुवेणी उठती है । )

बालक—आओ, चलें ।

कुवे०—कहाँ ?—

बालक—मेरे साथ आओ। कोई चिन्ताकी बात नहीं है। आओ।

( दोनोंका प्रस्थान । )

---

## तीसरा दृश्य

**स्थान**—बंगालके महाराज सिंहबाहुका राजमहल।

**समय**—प्रभात ।

[ सिंहबाहु और सुरमा । ]

सिंह०—सुरमा, विजयकी कोई खबर नहीं मिली ?

सुर०—नहीं पिताजी !

सिंह०—" नहीं पिताजी " बस रोज यही एक ही उत्तर कि—" नहीं पिताजी "—लेकिन, नहीं, इसमे तुम्हारा दोष ही क्या है ? दोष हमारा ही है !—जाओ, सुमित्रको यहाँ भेज दो।

सुर०—पिताजी !

सिंह०—( कड़ी आवाजसे ) जाओ ।

( सुरमा जाती है । )

सिंह०—परम स्नेहवान् पुत्रको देशसे निकालकर बड़े आनन्दमें हैं। पुत्रने सिर झुकाकर अपना दोष स्वीकृत किया था, क्षमा माँगी थी।—पर हमने उसे क्षमा नहीं किया। घरसे कुत्तेकी तरह दुतकार कर निकाल दिया। क्रोध भी कैसा विषम शत्रु है! कैसा अन्ध है! इस घने अन्धकारसे भी बढ़कर अन्ध है—विजय ! विजय !

[ सुमित्रका प्रवेश । ]

सुमित्र—पिताजी !

सिंह०—कौन ? सुमित्र ?

सु०—पिताजी, आपने मुझे बुलाया है ?

सिंह०—बुलाया था—हॉ बुलाया था । लेकिन नही, तुम चले जाओ ।

सु०—पिताजी !

सिंह०—चले जाओ, लौट जाओ ।

( सुमित्रका चुपचाप सिर झुकाकर खडे रहना । )

सिंह०—नही नही, इसमे तुम्हारा ही क्या अपराध है ? तुम क्या करोगे ? अरे, पशु भीतरसे फिर गरजने लगा ! ठहर जा ।—नहीं सुमित्र, तुम्हारा इसमे कोई अपराध नही है । दोप हमारा ही है । सुमित्र, विजय तुम्हे प्यार करता था ?

सु०—हॉ पिताजी, प्यार करते थे । वे मुझे बहुत प्यार करते थे ।

सिंह०—हमे भी बहुत प्यार करता था । वह मुझे जितना चाहता था शायद और कोई पुत्र अपने पिताको उतना न चाहता होगा । ऐसे पुत्रको हमने देशसे निकाल दिया । वह सुन्दर, वह महत्, वह उन्नत ललाट, वह शौर्य्य—चौड़ी छाती—वह उदार ! ऐसे पुत्रको—विजय ! विजय ! !

सु०—पिताजी ! ( हाथ पकड़ लेता है । )

सिंह०—नहीं, तुम क्या करोगे ? तुम्हारा दोष नहीं है । ( कुछ कुछ आप ही आप ) उसके बदलेमे यह भीरु, यह चकित-दृष्टि, यह नारी-कोमल, लोल मास-पिण्ड, यह असार ! नहीं तुम्हारा इसमे दोप ही क्या है ! दोष हमारा है, हमारा है, हमारा है ! ( छाती पीट लेते है । )

सु०—पिताजी, यह क्या कर रहे हैं ?

सिंह०—हट जाओ—नही नहीं, यह हम क्या कर रहे थे ? नहीं, नही, राजकुमार, तुम्हारी तलवार कहॉ है ?

सु०—यह मेरे पास है ।

सिंह०—निकालो ।

( सुमित्र म्यानसे तलवार निकालता है । )

सिंह०—आओ, तुम्हे तलवार चलाना सिखा दे । ( सिखाते हैं । ) इस प्रकार सिरकी रक्षा की जाती है । इस प्रकार हाथ चलाते चलाते सिर बचाकर फिर इस तरह घूम जाना चाहिए । घूम जाओ । नहीं—ठीक नहीं हुआ । हॉ, अब ठीक हुआ । अब इसके बाद—

सु०—पिताजी, पैरोकी रक्षा किस तरह की जाती है ?

सिंह०—पैरकी रक्षा नहीं की जाती । पैर दो होते हैं, अगर एक कट भी जाय तो कोई हर्ज नहीं, लेकिन सिर सिर्फ एक ही होता है। शत्रुका प्रधान लक्ष्य तुम्हारा सिर ही रहता है ।

सु०—सिर ही रहता है ?

सिंह०—हॉ, यही सिर ! पैर कट जाय, तो लकड़ीका पैर लग जाता है । लेकिन अगर सिर कट जाय, तो लकड़ीका सिर नही लग सकता । सिर बचानेके बाद और सब—

सु०—शत्रुपर इसी तरह आक्रमण किया जाता है ?

सिंह०—हॉ, लेकिन अपना सिर बचाकर ।

सु०—पिताजी, आपने उस दिन कहा था न कि अपनी रक्षा इस प्रकार करनी चाहिए, जिसमें उसीसे सहजमे शत्रुपर वार हो सके।

सिंह०—वह सब ठीक नहीं बतलाया था—वह सब भूल जाओ । अब नया ढंग सिखलाते हैं । इस तरह—इस तरह—

[ सुरमा आती है । ]

सुर०—पिताजी ! पिताजी !

सिंह०—इसके बाद तलवार—इस तरह—

सुर०—पिताजी, भइयाकी खबर मिली है !

सुमि०—पिताजी, सुनिए, बहन क्या कहती है ।

सुर०—भइया अच्छी तरह जीते जागते है ।

सुमि०—पिताजी, सुनिए, भइया जीते-जागते है ।

सिंह०—झूठ !

सुर०—नहीं पिताजी, झूठ नहीं । वे—

सिंह०—कहते हैं, चली जाओ ।

( सुरमा चली जाती है । )

सिंह०—हॉ, घूम जाओ ! खड़े क्यो हो गए ?

सुमित्र—पिताजी—

सिंह०—घूमो ! सिर बचाओ, नही तो अभी मार डालेंगे ।

सुमि०—मार डालिए । ( तलवार फेंक देता है । )

सिंह०—तुम समझते हो कि हम मार न सकेंगे ? मार न सकेंगे ? उसने हमारे पैर पकड़कर माफी मॉगी थी । हमने बाप होकर भी लात मारकर उसे हटा दिया !—अरे बेवकूफ लड़के ! जानता है, हम कौन हैं ? हम हैं सिंहबाहु । हमारे पिता सिंह थे । सिंह अपनी सन्तानका लहू पीता है ? जानता है ? ले, तलवार ले और वीरोंकी तरह लड़ते लड़ते मर ।

सुमित्र—( हाथ जोड़कर ) पिताजी !

सिंह०—चुप रह । समझता है कि हमे दया आ जायगी ? विजयने भी इसी तरह " पिताजी पिताजी " कहा था । पर कुछ भी न हुआ । हमारा नाम सिंहबाहु है । ले, तलवार ले ।

[ मन्त्रीका प्रवेश । ]

मंत्री—महाराज !

सिंह०—मंत्री !

मंत्री—महाराज ! ( अभिवादन करता है । )

सिंह०—वैद्यराजको बुलाओ, युवराजको विकार हुआ है । अब मृत्युमें अधिक विलम्ब नहीं है । ( कड़ी आवाजसे ) जाओ ।

( मन्त्रीका प्रस्थान । )

सुमित्र—हे भगवन् ! इतने स्नेहमय पिता, इतने स्नेहमय ! उन्हे पागल मत करो । भइयाको फिर यहाँ ले आओ । मेरे अभिमानी महत् उदार भइयाको लौटा दो । बड़े अभिमानी—लेकिन बड़े स्नेहमय ! भगवन् ! ( गला रुँध जाता है ) पिताजी, आप मुझे मार डालिए, मगर अपने होश हवास मत खोइए । ( सिंहबाहुके गलेसे लिपटकर ) पिताजी, आप मुझे मार डालना चाहते है ?

सिंह०—( तलवार फेंककर ) आओ बेटा, गोदमे आओ । अहा ! कैसा शीतल स्पर्श है ! मेरी पशुवृत्ति पानी हो गई ! अरे अबोध बालक ! जानता है, मेरे मनमें क्या हो रहा है ?—मैंने विजयको लात मारकर निकाल दिया—ओ हो हो हो ! ( रोना ) एक वह दिन था जब कि हम पलभर उसे नहीं देखते थे तो मालूम होता था कि हमारा बच्चा नहीं है; और क्षणभरके बाद ही जब उसे फिर देखते थे तो मालूम होता था कि खोया हुआ धन फिर मिल गया । विजय हमारा खाली लड़का तो था ही नहीं, वह तो हमारे साथ खेला था, हमारे प्राणोका प्राण था, हमारे इह जीवनका सब कुछ था । उसे हमने कुत्तेकी तरह दुतकार दिया । ओ हो हो हो—

[ सेनापतिका प्रवेश । ]

सेना०—महाराज, भैरव डाकू पकड़ा गया ।

सिंह०—सूलीपर चढ़ा दो ।—नही, उसने विजयको बचाया है। उसको खूब पेट-भर खिलाकर छोड़ दो ।

सेना०—वह एक वार महाराजके दर्शन करना चाहता है ।

सिंह०—क्यो ?

सेना०—कुछ कहना चाहता है ।

सिंह०—किस विषयमे ?

सेना०—महारानीके सम्बन्धमे ।

सिंह०—नही, कोई जरूरत नही ।

सेना०—विजयसिंहके विषयमे—

सिंह०—तो चलो । ( प्रस्थान । )

सुमित्र०—पिताजीकी यह दशा कैसे हो गई ? ( घुटने टेककर ) भगवन् ! पिताजीको बचाओ । भइयाको फिर यहाँ ले आओ—

[ रानीका प्रवेश । ]

सुमित्र—माँ !—माँ !

रानी—सुमित्र, महाराज कहाँ है ?

सुमित्र—मालूम नही । माँ, पिताजीको क्या हो गया है ?

रानी—अभी तो वे यही थे न ?

सुमित्र—हाँ थे तो सही। सेनापति आए थे, वे यह कहकर उन्हें ले गए कि भैरव डाकू आया है । माँ, तुम इस तरह क्यो देख रही हो ?

रानी—तब क्या हुआ ?

सुमित्र—उसके बाद पिताजी एकाएक उनके साथ चले गए ।

रानी—गजब हो गया !—

सुमित्र—क्यो क्या हुआ ?

रानी—उन्हे यहाँसे गए कितनी देर हुई ?

सुमित्र—अभी गए है।—माँ, पिताजी ऐसे क्यों हो गए हैं?

रानी—मै नहीं जानती। ( जल्दीसे प्रस्थान। )

सुमित्र—आश्चर्य!

[ मन्त्री और वैद्यका प्रवेश। ]

मंत्री—राजकुमार, महाराज कहाँ हैं?

सुमित्र—मंत्री महाशय, आप जानते है, पिताजीको एकाएक यह क्या हो गया है?

वैद्य—राजकुमार, हाथ दिखलाइए।

सुमित्र—( हाथ आगे बढ़ाकर ) क्यो?

( वैद्यराज नाडी देखते हैं। )

वैद्य—जीभ दिखलाइए।

( सुमित्रका जीभ दिखलाना। )

वैद्य—हॉ, यही तो!

मंत्री—आपने क्या देखा?

वैद्य—अवस्था अच्छी नही है।

मंत्री—क्यो, क्यो? क्या हुआ है?

वैद्य—( करुणभावसे सिर झुकाकर ) राजकुमार, आपकी अवस्था अच्छी नहीं है।

सुमित्र—क्यो?

वैद्य—रातको अच्छी तरह नींद नहीं आती होगी?

सुमित्र—खूब नींद आती है।

वैद्य—लेकिन जब एक बार नींद खुल जाती है तब फिर तो नींद नहीं आती न? और—और भूख—?

सुमित्र—भूख भी खूब लगती है।

वैद्य—हाँ, भूख तो खूब लगेगी ही। लेकिन जब भूख लगती है, तब खानेकी भी इच्छा होती है ?

सुमित्र—हाँ।

वैद्य—यह और भी बुरी बात है। भूखके समय यदि खानेकी इच्छा हो तो और भी बुरा है। जरा एक बार और नाड़ी देखे। ( नाड़ी देखकर ) भइयाजी, आपको तो विकार है।

सुमित्र—कैसा विकार ?

वैद्य—ज्वर-विकार !

सुमित्र—मुझे तो कुछ भी नहीं मालूम होता।

वैद्य—यही तो खराबी है। यदि आपको मालूम होता, तब तो वह मामूली ज्वर होता। मालूम नहीं होता, यही तो बुरी बात है।

सुमित्र—मुझे बुखार है ?

वैद्य—अरे भइया, हम वैद्य हैं। हम कहते है कि आपको बुखार है। आपने तो यह शास्त्र पढ़ा नहीं है।

सुमित्र—लेकिन—

वैद्य—इसमें तर्क न कीजिए। आपको ज्वर-विकार है। जाकर सोइए। हम औषधका प्रबन्ध कर देते है। आप जाकर सोइए।

नेपथ्यमे सिंहबाहु—( क्रोधसे ) रानी कहाँ है, बुलाओ उसे।

मंत्री—लो, महाराज आ रहे है।

[ क्रुद्धभावसे सिंहबाहुका प्रवेश। ]

सिंह०—है ! यह क्या ! यहाँ राजमहलमे वैद्य ?

वैद्य—महाराजका अनुमान बहुत ठीक है। कुमारको विकार हुआ है।

सिंह०—पागल ! पागल !

वैद्य—हाँ, पागल ही समझिए। कुमार अण्ड-बण्ड बक रहे हैं।

सिंह०—मूर्ख, तुम खुद अण्ड-बण्ड बक रहे हो।

मंत्री—वैद्यजी, क्या आप पागल हो गए है?

वैद्य—महाराज!

सिंह०—निकाल दो इसे!

मंत्री—महाराज!

सिंह०—पहले इसको बाहर निकाल दो, तब बात करो।

वैद्य—मै औषधका—

सिंह०—निकल जाओ।

( वैद्यराजका प्रस्थान। )

मंत्री—लेकिन महाराज वैद्यराजको—

सिंह०—तुम लोग हमे बिना पागल किए न छोड़ोगे। चले जाओ।

( मन्त्रीका प्रस्थान। )

सिंह०—और तुम क्यो खडे हो? समझते हो कि राज्य मिलेगा? राज्य नहीं मिलेगा, हम पहले ही राज्यको नष्ट कर देंगे—जलाकर राख कर देगे और वही राख रानीके मुँहपर डालेगे।—नही नही, रानी कहाँ है? रानी कहाँ है? द्वारपाल!

[ द्वारपालका प्रवेश। ]

सिंह०—रानीको खबर करो, कह दो कि हम अभी इसी समय मिलना चाहते हैं, अभी।

( द्वारपालका प्रस्थान। )

सिंह०—आज रानीका राज्य गया! रानी गई, राजा गया, राजकुमार गया—आज बेटा, हम और तुम है।—है! यह क्या! हमारी पशु-प्रकृति अब फिर जाग उठी है—गरज रही है—नहीं बेटा, कोई डर नहीं। खड़े रहो; जरा हम स्थिर हो जायँ। न्याय करेगे। ( इधर उधर

घूमते है । ) हमने यह तो नहीं सोचा था । लेकिन क्यो नहीं सोचा था सो मालूम नहीं । लो, यह रानी आ गई !

[ रानीका प्रवेश । ]

सिंह०—खड़ी रहो रानी ! हमारे सामने खड़ी रहो । हाथ जोड़कर खड़ी रहो ।

सुमित्र—पिताजी !

सिंह०—चुप रहो । रानी इतने दिनोके बाद तुम्हारा सारा षड्यंत्र खुल गया । रण-भेरीके स्वरमे वह षड्यंत्र आप ही आप बोल उठा ।

रानी—षड्यंत्र !

सिंह०—तुम नहीं जानतीं? पाप ऐसा सुन्दर चेहरा लगा सकता है ! आश्चर्य्य ! पापिनी !—नहीं, हम भूलते हैं । धीर भावसे न्याय-विचार करेगे । जहाँतक हो सके—धीर भावसे । हे विधाता ! ऐसा करो कि दण्ड देनेसे पहले ही हम पागल न हो जायँ—द्वारपाल !

[ द्वारपालका प्रवेश । ]

सिंह०—जल्लादको बुलाओ ।

( द्वारपालका प्रस्थान । )

सिंह०—आज तुम्हे कुत्तोसे—नहीं नही, धीर भावसे फैसला करेगे । रानी, खड़ी होओ, हाथ जोड़ो, काँपो । जानती हो, तुम्हारे विरुद्ध क्या अभियोग उपस्थित है ?

रानी—मेरे विरुद्ध !

सिंह०—हाँ, तुम्हारे विरुद्ध । ठहरो, जरा स्थिर हो ले । ( इधर उधर घूमते है । ) यह तो हमने पहले कभी नही सोचा था, परन्तु मालूम नहीं कि क्यो नहीं सोचा था । तुम खड़ी रहो । हमारे सामने अपराधियोकी तरह हाथ जोड़कर खड़ी रहो । ( पैर पटककर ) खड़ी रहो ।

( रानी हाथ जोडकर सामने खडी होती है । )

सिंह०—सुनो, इस बातका प्रमाण मिला है कि तुमने हमारे पुत्र विजयसिंहके विरुद्ध षड्यंत्र रचा था। तुम्हींने उसपर यह अभियोग लगाया था—

रानी—( आश्चर्य्यसे ) मैंने ?

सिंह०—क्यों, तुम्हें इतना आश्चर्य क्यों हुआ ?

रानी—मैंने कुमार विजयसिंहके विरुद्ध षड्यंत्र रचा था ?

सिंह०—हाँ।

रानी—प्रमाण ?

सिंह०—प्रमाण चाहती हो ? द्वारपाल, ब्राह्मणको बुलाओ—

[ ब्राह्मणका प्रवेश। ]

सिंह०—प्रमाण यही ब्राह्मण है। ब्राह्मण, किसने तुमसे यह अभियोग उपस्थित करनेके लिए कहा था ?

ब्राह्मण—मंत्रीने।

सिंह०—तुम्हे मालूम है कि मत्रीने किसकी सलाहसे ऐसा किया था ?

ब्रा०—हाँ, जानता हूँ।

सिंह०—किसके कहनेसे ?

ब्रा०—महारानीके कहनेसे।

सिंह०—( रानीसे ) प्रमाण सुन लिया रानी ?

रानी—बहुत अच्छे ! महाराज, यह एक दरिद्र भिक्षुक है। आप जरा शान्त हो। मैं इस विषयमें कुछ भी नहीं जानती।

सिंह०—ठहरो, अभी और भी प्रमाण है। इसके बाद तुमने युवराजकी हत्या करनेके लिए मंत्रीको नियुक्त किया था।

रानी—किस प्रकार ?

सिंह०—विष देकर।

रानी—क्या इसका भी कोई प्रमाण है ?

सिंह०—उसका प्रमाण यह दरिद्र भिक्षुक नही—वह मंत्री था। मरते समय मंत्रीने हमारे सामने यह बात कही थी। लेकिन उस समय हमें विश्वास नही हुआ था। यह क्या! तुम पत्थरकी मूरतके समान क्यों हो गई ?

रानी—उसके बाद ?

सिंह०—उसके बाद तुम स्वयं युवराजकी हत्या करने गई थीं। उसका प्रमाण भैरव डाकू है।

[ भैरवका प्रवेश। ]

सिंह०—उसका प्रमाण यही भैरव है। ( भैरवको सामने खड़ा करते है। )

रानी—वाह क्या बात है! बंगालकी महारानीके विरुद्ध अभियोग—महाराजके राजकुमारकी हत्याकी चेष्टा। और उसमे गवाह—एक भिक्षुक, एक विश्वासघातक मंत्री, और एक डाकू!—इसी बुद्धिसे आप इतना बडा राज्य चलाते है! ( लापरवाहीसे मुँह फेर लेती है। )

सिंह०—ठहरो। अभी हमारी बात पूरी नहीं हुई। हम फैसला करते है, सुनो। ब्राह्मण देवता, तुम्हारी कन्या गई और हमारा पुत्र गया। हम दोनो सम-दुःखी है। लेकिन क्या तुम जानते हो कि बगालके युवराजके विरुद्ध झूठा अभियोग चलानेका क्या दण्ड है ?—तुम कॉप क्यो रहे हो ? तुम्हे हम अधिक दण्ड न देगे। तुम्हे सिर्फ देशसे निकाल दिया। मंत्रीको तो अब दण्ड दिया ही नहीं जा सकता। और भैरव, तुमने हमारे पुत्रकी रक्षा की है, इस लिए आजसे तुम हमारे राज्यके सेनापति हुए।

भैरव—महाराज, मुझे क्षमा करे। मैंने शपथ की है कि मै महाराजके हाथसे कोई पुरस्कार न लूँगा।

सिंह०—अच्छा, जैसी तुम्हारी इच्छा—और महारानी, जानती हो कि बंगालके युवराजके प्राण लेनेके लिए षड्यन्त्र रचनेका क्या दण्ड है ?

रानी—प्राणदण्ड !

सिंह०—जल्लाद !

[ जल्लादका प्रवेश । ]

सिंह०—रानीको वध्य-भूमिमे ले जाओ । ले जाओ, हमारी आज्ञा है, ले जाओ ।

( जल्लाद रानीके हाथ बाँधता है । )

सुमित्र—पिताजी !

सिंह०—क्या है सुमित्र ?

सुमित्र—पिताजी, आप माताके प्राण न ले ।

सिंह०—अच्छा, तो तुम्हे प्राणदण्डके बदले दूसरा दण्ड देते है । जल्लाद, लोहेकी गरम सींखसे इसको अन्धी करके नगरकी सड़कपर छोड़ दो । लेकिन पहले एक बार इसे हमारे पास ले आना । ज़रा देखेंगे कि इसका चेहरा कैसा हो जाता है । ले जाओ ।

( रानीको लेकर जल्लाद जाना चाहता है । )

सिंह०—और सुनो, जरा इसकी जीभ भी काट लेना । स्त्रीकी जब तक जीभ रहे तब तक उसका कभी विश्वास नही करना चाहिए । वह इतनी झूठी बातें कह सकती है !—जाओ ले, जाओ । रानी, तुमने मेरे परम प्रिय पुत्रको मुझसे छुडाया है, आँखें रहते भी तुमने मुझे अन्धा कर दिया है । इसके बदलेमे यदि हम—

सुमित्र—पिताजी, आप माताको क्षमा कर दे, क्षमा कर दे ।

सिंह०—क्यो बेटा, तुम यह सोचते हो कि यह राज्य हम तुम्हें दे जायँगे ? यह ध्यान छोड देना । राजा तो दूर रहा, ऐसी राक्षसीके गर्भसे मनुष्य भी नहीं जनम सकता । तुम्हे भी उसके साथ ही निकाल देगे । जाओ ।

सुमित्र—पिताजी, आप क्रोधसे पागल न हो जायँ ।

सिंह०—क्रोधसे ! नहीं नहीं, हम क्या कर रहे हैं ? नहीं—कुछ नहीं। लेकिन आह !—जिसे हम रास्तेके कीचड़मेसे उठा लाए, जिसे गुलाब-जलसे स्नान कराया, जिसे सिंहासनपर अपने पास बैठाया, उसका यही उचित प्रतिदान है ! हमने उचित दण्ड दिया है।

सुमित्र—देखिए, माता किस तरह बिलख बिलखकर रो रही हैं। माँ—माँ ! ( दौड़कर जाता है । )

सिंह०—वह—वह—अहा हा ! अरे बेचारीको अन्धी न करना, बेचारीको अन्धी न करना। ( दौडकर आगे बढना और फिर एकाएक रुक जाना ) नहीं, जैसा कर्म्म है वैसा ही फल भी होना चाहिए ! आश्चर्य ! नही, और कुछ नही । पैरके आघातसे नींद खुल गई है ।

( अन्धी रानीको लेकर जल्लादका आना । )

सिंह०—अन्धी कर दी ? ( देखकर भयसे मुँह फेर लेना ) अरे ! यह कौन ? यह रानी है !—कितनी भयानक है ! दुःख ! लेकिन दुःख काहेका । अब हम दोनो अन्धे हैं । हम आँखे रहते भी अन्धे है और तुम !—हाः, हाः, हाः, बहुत अच्छा हुआ । बहुत अच्छा हुआ !—पिशाची ! राक्षसी ! ( बाल पकड़ते है । )

[ सुरमाका प्रवेश। ]

सुर०—पिताजी ! पिताजी ! यह आप क्या कर कर रहे हैं ?

सिंह०—क्यो ? क्या कर रहे है ? ( बाल छोड देते हैं । )

सुर०—पिताजी ! क्या आप ऐसा भी कर सकते हैं ?

( सिंहबाहु लज्जासे सिर झुका लेते हैं । )

सुर०—पिताजी ! अब व्यर्थ क्रोध करनेसे क्या लाभ होगा ? भइयाको तो अब लौटकर पाओगे नही ।

सिंह०—हमने क्या अन्याय किया ? हम राजा है, हमने न्याय किया है ! यदि पुत्रके साथ रिआयत नहीं की, तो रानीके साथ रिआयत

क्यों करें ? हम महाराज सिंहबाहु है। हमने बिना दोषके पुत्रको निर्वासित किया है। इस पिशाचीको ले जाओ—देशसे बाहर निकाल दो।

सुर०—तो फिर पिताजी, मै भी जाती हूँ।

सिंह०—जाओ न, तुम्हे रोकता कौन है ?

सुर०—आओ, अभागिनी माँ। आज मै तुम्हारे सब अपराध क्षमा करती हूँ। आजसे मै तुम्हारी बेटी हुई। आओ माँ।

( सुरमा पिताको प्रणाम करके रानीको साथ लिए हुए जाती है। )

सिंह०—बस, बस। पुत्र गया, कन्या गई, स्त्री गई। राज्य जाए, और हम भी जाएँ। बम् भोलानाथ !

---

## चौथा दृश्य

स्थान—लंकाका समुद्र-तट। समय—सन्ध्या।

[ विजय लेटे हैं। कुछ दूरपर समुद्रके किनारे बालक गा रहा है और विजय अधलेटे हुए उसका गाना सुन रहे हैं। ]

कजली।

**सखिरी वर्षाकी ऋतु आई, नभमें घिर आये घनघोर ॥ टेक ॥**
**देख, अँधेरा फैल गया है, कैसा चारों ओर ॥ सखि० ॥**
**दुखसे व्याकुल मन घबड़ाता, कहाँ रहूँ किस ठौर ? ॥ सखि० ॥**
**चमक गरजसे चौंक पड़ूँ मैं, काँप उठे हिय जोर ॥ सखि० ॥**
**हर दम रिम-झिम बादल बरसें, वहे बारि कर शोर ॥ सखि० ॥**
**इस घन-तममें मुझ दुखियाको, सूझे ओर न छोर ॥ सखि० ॥**
**जल-शीकर-मिश्रित समीरसे, झँप जावें दृग-कोर ॥ सखि० ॥**
**अमित दुःखसे असह व्यथासे, हृदय उठे झकझोर ॥ सखि० ॥**
**गूढ़-निराशा मर्म भेदती, धिक् धिक् जीवन मोर ॥ सखि० ॥**

विजय०—कैसे आश्चर्य्यकी बात है !

[ लीला गाते गाते विजयके पास आती है । ]

विजय०—बालक, इस किशोर अवस्थामे ही तुम्हे कौनसा दुःख है इस तरुण अवस्थामे क्या तुम किसीके प्रेममे पड़ गये हो ?

ली०—यह आपसे किसने कहा ? मुझे दुःख है ! मुझे तो अपार सुख है ।

विजय०—तब तुम दुःखभरा गीत क्यो गा रहे थे ?

ली०—दुःखके गीतके समान मीठा और भी कोई गीत है ?

विजय०—भाई, तुम ठीक कहते हो ।

ली०—अच्छा, आप क्या सोच रहे थे ?

विजय०—कुछ विशेष नही ।

ली०—लेकिन मै समझता हूॅ कि कुछ विशेष अवश्य है ।

विजय०—क्यो ?

ली०—मै बहुत दिनोसे देखता आ रहा हूॅ कि जब किसी युवा पुरुषसे पूछा जाय कि—" क्यो जी, तुम क्या सोच रहे हो ? " और वह कहे कि " नही, कोई ऐसी विशेष बात नही है । " तब समझ लो कि उस समय वह अवश्य ही कोई विशेष बात सोचता होगा ।

विजय०—कौन कहता है ? कभी नहीं ।

ली०—आप इतना नाराज़ क्यो हो गए ? आप यही कह देते कि —" अमुक स्त्रीकी बात सोचता हूॅ । " इसके लिए आपको कोई दोष नही दे सकता था । अथवा, यही कह देते कि—" यही सोचता था कि पशु चार पैरोसे क्यो चलते है और मनुष्य दो पैरोसे क्यो चलते है । " इस समस्याकी मीमासा आजतक कोई नहीं कर सका है । लेकिन जब आप यह कहे कि—" नही, वह—कोई ऐसी विशेष—बात नहीं है—हॉ—" तो इसका अवश्य कोई गूढ़ अर्थ है ।

विजय०—अच्छा, अब तुम जाओ ।

ली०—मै बतलाऊँ कि आप क्या सोचते थे ?

विजय०—अच्छा, बतलाओ।

ली०—आप सोचते थे कि दो और दो चार क्यो होते हैं? कभी पाँच क्यों नही होते ?

( विजय हँस पड़ते हैं। )

ली०—इसका उत्तर भी बतलाऊँ ?

विजय०—(हँसकर ) हाँ, बतलाओ।

ली०—इसका उत्तर यही है कि सदासे ऐसा ही होता आया है। इसके सिवा और कुछ हो नहीं सकता, क्या किया जाय।

विजय०—(हँसकर) ठीक है।

ली०—किन्तु यह तो सूखी और बनावटी हँसी है!—क्यो कैसा समझ लिया? अच्छा मित्र, यह बतलाइए कि आप इतने गम्भीर क्यो है?

विजय०—क्या मैं बहुत ही गम्भीर हूँ?

ली०—बहुत अधिक गम्भीर! ससारमे आकर और इतनी गम्भीरता! जिस ससारकी ओर निहार कर देखें, और जरासा सोचे तो खूब हँसे बिना रहा ही नहीं जाता।

विजय०—अच्छा, खूब हँसी आती है?

ली०—खूब। मेरी तो समझमें ही नहीं आता कि मनुष्योंसे एक दूसरेकी ओर देखते हुए भी गम्भीर होकर कैसे रहा जाता है!

विजय०—क्या गम्भीर होकर रहना बहुत कठिन है?

ली०—बहुत ही कठिन है और यह बहुत ही जोरसे हँसनेकी बात है।

विजय०—सो कैसे?

ली०—देखिए मित्र, मनुष्य जब कपड़े-लत्तेसे दुरुस्त होकर खड़ा होता है और सिर ऊँचा करता है, तब जान पड़ता है कि वह मनुष्य है, पर भीतरसे वह निरा पशु है।

विजय०—क्यो, पशु क्यो है ?

ली०—एक तो वह नगा होकर यदि चारो पैरोसे चलने लगे तो पशु है! और दूसरे, जो चीज़ उसके पास है, जो ध्रुव है, जो मुट्ठीमें है, जो सहज है, उसे छोडकर वह उस चीज़के पीछे दौड़ता है, जो दूर है, जिसके विषयमे वह कुछ भी नही जानता और जो अस्पष्ट है। इसीलिए वह घरकी लक्ष्मीको छोडकर पराई लक्ष्मीकी ओर बढ़ता है, दीपकको छोड़कर जुगनू पकड़ने जाता है। इसी लिए ऐसे सुन्दर, सरल, प्रत्यक्ष जगत्को छोड़कर अबोध्य, अन्धकारमय और निगूढ ईश्वर-तत्त्वको लेकर सिरपच्ची करता है। इस आकाशके बाद क्या है, मरनेके बाद क्या होता है, बस इसी तरहके सदाके 'क्या' और 'क्यो' के पीछे पड़ा रहता है, जिसका मतलब ही मालूम नही हो सकता।

विजय०—बालक, तुम कौन हो ? सचमुच मुझे बड़ा ही आश्चर्य होता है कि—

ली०—आश्चर्यकी तो बात ही है!

विजय०—कि—तुम किशोर अवस्थामे घर छोड़कर घर-बारसे रहित डाकुओके दलके साथ क्यो घूम रहे हो ?—आश्चर्य है!

लीला—बेशक आश्चर्य है।

विजय०—इस तरह क्यो घूमते हो ?

लीला—केवल कुतूहलके कारण।

विजय०—यह तो झूठ बात है।

ली०—हॉ, आप ठीक कहते है—झूठ बात है। मित्र, आप तो अन्तर्यामी जान पड़ते है।

विजय०—क्यो ?

ली०—और नही तो फिर झूठ बातोका आपको इतना अधिक परि-

चय है कि आप उन्हे देखते ही पहचान लेते है। आपके साथ बात करनेमें भय माॡम होता है।

विजय०—क्यो ?

ली०—पीछे कही मेरी सच्ची बात भी झूठ न हो जाय।—एक तो झूठ बोलनेकी मेरी आदत है और उसपर—सुनिए, घुग्घू बोलता है।

विजय०—तुम एक गोरख-धन्धा हो।

ली०—आपने बहुत ठीक समझा।

विजय०—क्या ठीक समझा ?

ली०—यही कि मै गोरख-धन्धा हूँ। बहुत ठिक!—आपमे इतनी बुद्धि है!

विजय०—इसलिए कि मैने समझ लिया कि तुम गोरखधन्धा हो ?

ली०—लेकिन यही बात और कितने आदमी जानते है ? मनुष्यका जीवन ही बड़ा भारी गोरख-धन्धा है। मेरे मित्र, यहाॅ कौन किसको जानता है ? कितना जानता है ? आपको ही कौन जानता है ? फिर भी मनुष्य इस बातका विचार करने बैठ जाता है कि कौन सत् है, कौन असत् है, कौन सरल है, कौन उदार है, कौन कूट है। कैसा दुस्साहस है! क्या आप यह जानते है कि सम्पन्नावस्थामे जो 'साधु' है, दरिद्रावस्थामे वैसे न जाने कितने 'साधु' चोर हो जाते हैं और सैकड़ो चोर धनकी अधिकताके कारण 'साधु' नामसे प्रसिद्ध हो सकते है! क्या आप जानते है मित्र, कि आज जिसके साथ आप अवज्ञाका व्यवहार करते है, जिसके साथ बात करनेमे भी घृणा होती है वही यदि आपका मालिक हो जाय, तो उसीके साथ बाते करनेके लिए आप लालायित होने लगेगे ? तब क्या सिर्फ मैं ही गोरख-धन्धा हूॅ ? या मनुष्यका जीवन ही गोरख-धन्धा है।—यह सारा विश्व ही एक महान् गोरख-धन्धा है। मूर्ख सोचता है कि मैने समझ

लिया; परन्तु ज्ञानी सोचता है कि कुछ भी नहीं समझा—इसीलिए वह ज्ञानी है।

विजय०—आखिर तुमने ये सब बातें कहाँ सीखीं भइया?

ली०—( माथेपर हाथ रखकर ) यहाँ।—आपका आश्चर्य्य तो बराबर बढ़ता ही जाता है! जाइए, अपना काम कीजिए। आप एक बालकका प्रलाप सुनते सुनते आलस्यमें यह दीप्त प्रभात बिताये देते हैं! लाज नहीं आती? कर्म्म कीजिए, नहीं तो यह दीर्घ जीवन किस प्रकार कटेगा? जो कर्म्म करनेवाला हो, उसके लिए यह जीवन बहुत ही क्षुद्र है और जो कर्म्म न करता हो, उसके लिए यह जीवन बहुत ही दीर्घ है। जाइए, आप वीर हैं, कर्म्म कीजिए। ( प्रस्थान। )

विजय०—कैसे आश्चर्य्यकी बात है! इतना छोटा बालक—संसारका कुछ भी हाल नहीं जानता—पर फिर भी इतना ज्ञानवान् है! कभी कभी तो इसकी बातें छोटीसी नदीकी चंचल लहरोंके समान अलस-मधुर होती हैं और कभी इसका सरल विज्ञान मर्म्मतक पहुँचकर उसपर आघात पहुँचाता है—हृदयमें छिपी हुई झंकारको झनझना देता है। बीच बीचमें मालूम होता है कि वह प्राणोंकी कोई छिपी हुई व्यथा दबाकर बैठा हुआ है। उसका हँसता हुआ चेहरा, झुकी हुई आँखें, काँपता हुआ स्वर। फिर भी उसके साथ बातचीत करनेमें मुझे बहुत शान्ति मिलती है।

[ अनुरोधका प्रवेश। ]

अनु०—महाराज!

विजय०—( चौंककर ) कौन—अनुरोध! क्या खबर है?

अनु०—कैदीके लिए क्या आज्ञा होती है?

विजय०—कैदी? कौन कैदी?

अनु०—मदुराके महाराज।

विजय०—ओह ! उन्हे छोड़ दो !

अनु०—जो आज्ञा ।

विजय०—

**सुन्दर सघन सुनील, गगन यह मौन-निरत है।**
**गिरि-तट हू निस्तब्ध, सुनिर्जन शोभायुत है॥**
**किन्तु न मन थिर होत, शान्ति उर लहै न पलभर।**
**नहीं भुलाए भूलत है, वह वदन मनोहर !॥**

[ उरुवेल और विजितका प्रवेश । ]

विजित—भइया, आपने यह स्थान छोड़नेकी आज्ञा दी है ?

विजय०—हाँ, दी है ।

विजित—अब कहाँ चलना होगा ?

विजय०—मालूम नहीं, पाल चढ़ा दो, जहाँ पहुँच जायँ ।

विजित—भइया, मालूम होता है कि आपका दिमाग़ ठिकाने नही है।

विजय०—हाँ, मैं भी यही समझता हूँ ।

विजित—क्या समझते है ?

विजय०—यही कि मेरा दिमाग़ ठिकाने नहीं है।

विजित—आपने भी यह बात समझ ली ? तब भला यह कैसे कहा जा सकता है कि आपका दिमाग बिलकुल ठिकाने नहीं है ? महीने-भरके बाद तो आकर एक जगह किनारे लगे, कितनी कठिनतासे लड़-भिड़कर मदुरा जीता और यहाँके महाराज हुए; और तीन दिन भी न बीते कि मदुरा छोड़नेका संकल्प कर बैठे !

विजय०—अब यहाँ तबीयत नहीं लगती ।

विजित—तो फिर अब कहाँ चलिएगा ? यह सुन्दर, शान्तिमय, श्यामल राज्य है; यहाँ आरामसे राज्य किया जा सकता है। और आप फिर यहाँसे चलनेकी तयारी कर बैठे ।

विजय०—भई, इतनी शान्ति, इतनी सुन्दरता, इतनी सेवा सही नही जाती; इसीसे तो यहाँसे चलनेका विचार है।

विजित—तब कहाँ चलना होगा ?

विजय०—जहाँ अराजक अत्याचार, उच्छृंखल उत्पीडन और प्राणघाती क्रोध हो। जहाँका राजा यह कहता हुआ मारने दौडे कि—"कौन हमारा अंश छीनकर खाने आया है ?" जहाँ क्रोधसे लाल आँखे, मार-काटके लिए निकली हुई तलवार और सरल शत्रुता हो। लुकी छुपी चालबाजी और धूर्तता जहाँ न हो—बल्कि जहाँ सीधी शत्रुता हो।

विजित—लेकिन एक ही जगह स्थिर होकर आप कुछ दिनोतक नही रह सकते ?

विजय०—तुम्ही बतलाओ कि हम किस तरह रह सकते हैं ?

विजित—देखिए, मै किस तरह रहता हूँ!

विजय०—तुम! क्या तुमने अपने पिताको पहले क्रम क्रमसे अपरिचितकी तरह और अन्तमे शत्रुकी तरह व्यवहार करते देखा है ? जब कभी तुम अपने पिताकी गोदमे जानेके लिए आगे बढे थे तब कभी उन्होने तुम्हे लात मारी थी ? जिसने तुम्हे अपने हाथोसे पाला उसने कभी तुम्हारे मुँहके आगे विष-पात्र भी रक्खा था ? क्या तुमने—लेकिन नहीं, इस तरह इस जीवन-समुद्रके मथनेसे क्या होगा ? उसमेसे विष भी तो न निकलेगा।

विजित—लेकिन यह चक्र कभी घूम भी तो सकता है—दिन फिर भी तो सकते है।

विजय०—लेकिन विजयसिंह भाग्यकी दयापर निर्भर रहनेवाले नहीं है।

विजित—तब आप क्या करेगे ?

विजय०—नया देश ढूँढ़ निकालूँगा, नया राज्य स्थापित करूँगा, नए धर्म्मका प्रचार करूँगा।

विजित—किस नए धर्म्मका ?

विजय०—इसी धर्म्मका कि संसारमें न कोई भाई है, न कोई बाप है और न कोई माँ है। सब माया है। सब भ्रम है। सब मिथ्या है। सब तपे हुए मस्तिष्ककी धुएँके समान कल्पना है। संसार माया है, अपने-पराए माया है, स्नेह माया है, और भक्ति भी माया है।

विजित—तो फिर सत्य क्या है ?

विजय०—निष्ठुरता, झूठ बोलना, धोखेबाजी और शैतानी। परमेश्वर यदि हो, तो हुआ करे। वह अनन्त निद्रामें पड़ा रहे। उसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है।

विजित—तो क्या हम लोग एक पागलके पीछे दौड़ रहे हैं ?

विजय०—क्या तुम्हें यही मालूम होता है ?

विजित—हाँ, मालूम तो कुछ ऐसा ही होता है।

विजय०—अच्छा तो फिर तुम घर लौट जाओ।

विजित—जायँगे, मगर आपको साथ लेकर।

विजय०—यह तुम्हारे वशकी बात नहीं है।

विजित—न सही, प्रयत्न तो कर देखें।

विजय०—प्रयत्न व्यर्थ होगा। पहले मैंने सोचा था कि संसारको मुँह नहीं दिखाऊँगा। अनन्त गम्भीर समुद्रमें नाव छोड़कर हवा घुमाती फिराती जहाँ ले जायगी वहीं चला जाऊँगा। इसके बाद तुम लोग भी मेरे साथ हो लिए।—क्यों साथ हो लिए,—भगवान् ही जाने।

विजित—हम लोगोंका आपपर प्रेम है, इस लिए।

विजय०—तुम लोग यही समझते हो ?

विजित—समझना कैसा !

विजय०—मुझे तो इसपर पूरा पूरा विश्वास नहीं होता।

विजित—न सही।

विजय०—अच्छा, ये लोग तो ठहरे बिना घर-बारके डाकू; इन्हे मेरी शक्तिका परिचय मिल चुका है, लूटकी आशासे ये लोग मेरे पीछे लग गये है। लेकिन तुम—तुम तो राजपुत्र हो। नहीं, यह एक बड़े भारी खटकेकी बात है।

विजित—हुआ करे। लेकिन क्या आज ही यहाँसे चलना होगा?

विजय०—हाँ।

विजित—लेकिन—

विजय०—नहीं भाई, दोहाई है! इसमे तुम जरा भी आपत्ति न करो। अब मै यहाँ न रह सकूँगा। जाओ, सब तैयारी करो।

( विजितका प्रस्थान। )

विजय०—यह भीपण समुद्र मदुराके पहाड़ी किनारोपर जोरोंसे टकरा रहा है, जिससे यहाँके किनारे आर्त्तनाद कर रहे है। पर इस समुद्रके अन्ध और अस्थिर हृदयमे दया नही—अनुकम्पा नही। ओह! यह समुद्र कैसा असीम, कैसा अस्थिर, कैसा गम्भीर और अपार है।

[ धीरे धीरे कुवेणीका प्रवेश ]

विजय०—कौन!—ऊः!

कुवे०—युवराज? क्या आप मदुरासे प्रस्थान कर रहे है?

विजय०—हाँ देवी, तुम ठीक कहती हो।

कुवे०—अब आप कहाँ जायँगे?

विजय०—कुछ ठीक नही। अनन्त समुद्रमे जहाज छोड़ दूँगा; इसके बाद हवा और लहरे जहाँ ले जायँ।

कुवे०—और मै कहाँ जाऊँगी?

विजय०—जहाँ तुम्हारी इच्छा हो ।

कुवे०—लेकिन कुमार, क्या आप मुझे छोड़कर जा सकेंगे ?

विजय०—क्यों न जा सकूँगा देवी ?

कुवे०—नहीं, आप न जा सकेंगे । मै आपसे प्रेम करती हूँ। क्यो, आप चुप क्यो हो रहे ? अब मैं आपको न छोड़ूँगी । बहुत ढूँढ़नेपर आज मुझे अपनी चीज़ मिली है ।

विजय०—लेकिन मेरा तो विवाह हो चुका है ।

कुवे०—नही, आप उसके नही बल्कि मेरे हैं । मैंने जिस समय आपको पहले-पहल देखा था उसी समय समझ लिया था । आपकी मजाल है जो आप मुझे छोड़कर चले जायँगे ?

विजय०—लेकिन देवी, मै विवाहित हूँ ।

कुवे०—जरा एक बार मेरे मुखकी ओर देखिए। केवल एक बार अच्छी तरह देखिए । इसके बाद अगर आप जा सके, तो खुशीसे चले जाइए । अच्छा देखिए ।

विजय०—इसमें सन्देह नही कि तुम अनिन्द्य सुन्दरी हो । मैंने पहले कभी ऐसा रूप नही देखा । लेकिन देवी !—

कुवे०—बस अब 'लेकिन' 'वेकिन' कुछ नहीं । अब कोई चिन्ता नहीं । आप मेरे है—मेरे है। जिस समय मेरे विवाहकी बातचीत होती थी, उस समय मेरी माता अभिमानसे कहती थी कि मेरी कन्या संसारमे अतुल सुन्दरी है । और सखियाँ गर्वसे उन्मत्त तथा आनन्दसे अन्ध होकर मेरी वंदना करती थीं । लेकिन मै उससे उद्वेलित नहीं हुई थी । पर आज आपके मुँहसे अपने रूपकी प्रशंसा सुनकर मैं आनन्दसे क्यो अधीर हो गई? प्रियतम, सुनिए, मै यह रूप आपको भिक्षा-दान करती हूँ । इसे लेकर आप धन्य होइए ।

विजय०—देवी, कह चुका हूँ कि मैं विवाहित हूँ।

कुवे०—मैंने एक वार कह दिया। अब आगे आपकी जो इच्छ हो सो कीजिए। देखूँ आपकी शक्ति। ( बाँहे हिलाती है।)

विजय०—सुन्दरी, तुम कौन हो?

कुवे०—परिचयसे मतलब? आप जाइए वीर, मैं देखूँ।

विजय०—अच्छा, मैं तुमसे विदा माँगता हूँ।

कुवे०—सावधान! अहंकार करके अपना भविष्य अन्धकारम न कीजिए!

विजय०—देवी, इस समय मेरे लिए जो अन्धकार है, उससे औ बढकर अन्धकार हो ही नहीं सकता!

कुवे०—आपको किस वातका दुःख है?

विजय०—यदि मुझे दुःख न होता, तो क्या मैं अपने 'वर्तमान -को इस लवण-समुद्रमे इस तरह बहा देता?

कुवे०—युवराज, मुझे बतलाइए कि आपको क्या दुःख है। मैं वह दुःख दूर कर दूँगी।

विजय०—नहीं भाई, तुमसे वह दूर न हो सकेगा।

कुवे०—तो भी प्रियतम, मुझे बतलाइए तो सही कि आपको क्या दुःख है।

विजय०—सुनोगी?

कुवे०—हाँ कहिए।

विजय०—मैं अपने देशसे निकाल दिया गया हूँ। और—मुझे देशसे निकालनेवाले वही प्रियतम पिता है, जिनसे बढकर मैंने संसारमे कभी किसीको चाहा ही नहीं। उन्ही पिताने—उन्हीं पिताने—नहीं, नहीं, उनके जिक्रकी जरूरत नही। वे पिता तो है ही, लेकिन महाराज हैं

और उन्होने न्याय किया है। उनका कोई दोष नहीं। सब दोष—सब अपराध—मेरा, मेरा ही है।

कुवे०—बस बस, मैंने समझ लिया। युवराज, हम दोनोका भविष्यत् गुप्त रूपसे एकसाथ जुडा हुआ है। अब इस जीवनमे हम लोग अलग नहीं हो सकते। मेरा नाम कुवेणी है और मैं लंकाके भूतपूर्व महाराजकी कन्या हूँ। प्रियतम, मेरे पिता अब इस ससारमे नहीं है। मेरी माताने लंकाके नए महाराजसे विवाह कर लिया है और अब वे अपनी सन्तानसे विमुख हो गई हैं। भला बतलाइए तो कि जब माता 'माता' ही न रह जाय, तो सन्तानको कितना दुःख होता है! और तिसपर लंकाके नए महाराज! क्या कहूँ! मै भी देशसे निकाली हुई हूँ। मै भी राजकन्या हूँ। लेकिन न तो मेरी माता है और न मेरे पिता। इस विशाल विश्वमे मेरा कोई नहीं है। न पिता है, न माता है, न घर है, न बार है। आपने समुद्रमेसे डूबते हुए मेरा उद्धार किया है। आइए नाथ, आप ही मेरे राज्यका भी उद्धार कीजिए। चलकर मेरा सिंहासन, मेरा पैतृक स्वत्व, मेरा जन्म-अधिकार मुझे दिलवा दीजिए।

---

## पाँचवाँ दृश्य

स्थान—लंका।

[ उत्पलवर्ण और तापस। ]

उत्प०—वही एक पुरानी बात—केवल उसका स्वरूप नया है। मनुष्यका जीवन चक्रके समान घूम रहा है! जो बात पहले हो चुकी है, वही अब फिर नए सिरेसे हो रही है और भविष्यमे भी वही होगी। इसीसे बीच बीचमे पिछले जन्मोकी बातोसे भावी घटनाओंके कुछ कुछ

संकेत मिल जाते है। स्मृतिका नीरव तंत्र बज उठता है। पूर्वजन्मकी निबिड कहानी स्वप्नावेशमे बह आती है। इसके बाद मोहके आलस्यसे फिर नींद—

तापस—हाँ, यह तो समझ लिया पुरोहितजी, लेकिन यह सोनेकी लका यक्षोकी है। यह मनुष्योकी कभी न हो सकेगी।

उत्प०—लेकिन यक्षोसे भी पहले यह सोनेकी लंका राक्षसोकी थी।

ता०—तो भी मै यह विश्वास नहीं कर सकता कि मनुष्य आकर इस लकाको जीत लेगे।

उत्प०—बहुत जल्दी विश्वास करना पड़ेगा। इसे जीतनेवाला आ रहा है।

ता०—कौन?

उत्प०—विजयसिंह। मैने उनकी गम्भीर विजय-भेरी सुनी है।

ता०—असम्भव।

उत्प०—वे आए जाते है। आज ही एक विलक्षण बात दिखाई पड़ेगी। सातसौ सैनिकोको साथ लाकर विजयसिंह लंका जीत लेंगे।

ता०—केवल सातसौ सैनिकोसे! यह तो कभी हो ही नहीं सकता।

उत्प०—जिस समय भीतरसे पोला हो जाता है, उस समय सुमेरु पर्वतका शिखर भी हवाके एक हलके झोकेसे जमीनपर गिर सकता है। —देखो ये लोग आ रहे है। आओ आड़मे हो जायँ। (दोनो आड़में छिप जाते है।)

[बाते करते हुए अनुरोध और उरुवेलका प्रवेश]

अनु०—अपने देशसे यहाँ कुछ ज़्यादा फरक तो नही मालूम होता।

उरु०—फरक काहेका! वही नीला आकाश, वही जुते हुए धानके खेत, वही पेड़-पत्ते। सब कुछ तो वही है।

अनु०—गौएँ-भैसे भी बिलकुल गौएँ-भैसे है।

उरु०—मालूम होता है कि दूध भी देती है।

अनु०—लंकाके विषयमें तरह तरहकी बातें सुनी जाती थी। सुनते थे कि वहाँके खेतोंमें सोना फलता है, पेड़ोंमें हीरोंके गुच्छे लगते हैं। लेकिन यहाँ तो सब चीजें हमारे ही देशकी तरह हैं।

उरु०—पर हाँ, यह देश कुछ अधिक जंगली है।

अनु०—और ठण्ढा भी अधिक है।

उरु०—यहाँ सन्नाटा बहुत है।

अनु०—बिलकुल मायामय है। यहाँ रह-रहकर नींद सी आने लगती है।

उरु०—लेकिन जलका यहाँ बहुत कष्ट है। दो दो कोसतक भी एक सरोवर नहीं है।

अनु०—मालूम होता है कि यहाँके लोग जल नहीं पीते।

उरु०—हाँ, यही तो जान पड़ता है! लेकिन यहाँके लोग घूमनेके लिए बाहर क्यों नहीं निकलते? ( दोनों आगे बढ़ते हैं। )

अनु—चलो, आगे बढ़कर देखें।

[ उत्पलवर्ण और तापसका बाहर निकल आना। ]

ता०—इन लोगोंकी बातें कुछ भी समझमें नहीं आई।

उत्प०—ये लोग प्राकृत भाषा बोलते हैं।

ता०—तुम्हें वह भाषा आती है?

उत्प०—हा, आती है।

ता०—यही लोग लंकाको जीतेंगे?

उत्प०—बेशक।

ता०—असम्भव।

उत्प०—( तापसकी ओर देखकर ) बेचारेको पूर्व-जन्मका कुछ भी हाल नहीं मालूम। लो, यह विजयसिंह आ रहे हैं।

[ पैरोंके चिह्न देखते देखते बालकके साथ विजयसिंहका प्रवेश । ]

विजय०—ये तो उन्हीं लोगोंके पैरोंके निशान हैं । लेकिन यहाँ आकर तो उन निशानोंका अन्त हो गया । अब तो वे निशान दिखाई ही नहीं पड़ते ।

बालक—हाँ, दिखाई तो नहीं देते ।

विजय०—आखिर इसका मतलब क्या है ?

बा०—या तो किसीने उन लोगोंकी यहाँ हत्या की है और या—

विजय०—और या क्या ?

उत्प०—युवराज विजयसिंहजी, आप आ गए ?

विजय०—आप कौन हैं ?

उत्प०—है ! मैं तो आपको पहचानता हूँ ।

विजय०—आपको मेरा नाम किस तरह मालूम हुआ ?

उत्प०—नाम !—मैं तो आपके नाड़ी नक्षत्र सब जानता हूँ ।

विजय०—आप मुझे पहचानते हैं ?

उत्प०—हाँ, बहुत अच्छी तरह पहचानता हूँ । ठीक वही अभिमानसे सिर हिलाना, वही चिन्तायुक्त उदासदृष्टि ।—सब बातें बिलकुल वही हैं ।

विजय०—आपने मुझे पहले कभी देखा है ?

उत्प०—हाँ, देखा है ।

विजय०—कहाँ देखा है ?

उत्प०—पूर्व-जन्ममें । आप मुझे बिलकुल नहीं पहचानते ? क्यों ? आप आश्चर्य्यसे मेरे मुँहकी ओर क्यों देख रहे हैं ? आप मुझे पहचान नहीं रहे हैं ?

विजय०—नहीं ।

उत्प०—लेकिन मुझे खूब ध्यान है। मुझे अच्छी तरह याद आता है कि आप एक बनिएके लडके थे और मै एक गृहस्थका लडका था। व्यापारमे आपका मन नही लगता था और ससारसे मेरी भी प्रीति नहीं थी। हम दोनो अभिन्न-हृदय मित्र थे।—आपको कुछ भी याद नहीं आता ?

विजय०—नही।

उत्प०—हम लोग कभी बिना एक दूसरेको देखे रह ही नहीं सकते थे। मुझे याद आता है कि एक दिन हम दोनो नीलाचलके नीचे टहल रहे थे; आप मुझे देश-देशान्तरकी बातें सुनाते थे, और मै आपको जन्म-जन्मान्तरकी बाते सुनाता था। घूमते घूमते सन्ध्या होनेको आई। मैंने कहा कि—"चलो मकान चले।" आपने कहा कि—"जरा चन्द्रमा निकल आवे।" इसके बाद अँधेरा हो गया। थोड़ी देर बाद चन्द्रमा निकला। तब हम लोग घर लौटे। लेकिन एक बिलकुल नए रास्तेसे चले।—आपको याद नहीं आता ?

विजय०—मुझे तो याद नहीं आता।

उत्प०—इसके बाद हम लोग एक जंगलमे जा पड़े। एक शेरकी आवाज सुनाई पड़ी। मै डर गया। लेकिन आप जरा भी विचलित नहीं हुए और पहलेकी तरह ही बराबर बाते करते हुए चलते रहे। इसके बाद—

विजय०—इसके बाद ?

उत्प०—इसके बाद जंगलमेंसे एक शेरने निकलकर मुझपर आक्रमण किया। आपने जल्दीसे तलवार निकालकर उसकी गरदनपर जमा दी; वह मुझे छोड़कर आपपर झपटा। शेरकी वह गरज और आपका खूनसे लथपथ शरीर, कातर दृष्टि और मृत्यु मुझे अबतक याद है।

विजय०—मेरी मृत्यु !

उत्प०—हाँ, मुझे ठीक याद है।

विजय०—सचमुच यह मायाका देश है। यहाँकी सभी बातें अद्भुत है।

उत्प०—और यह बालक कौन है? याद तो नही आता कि पूर्व जन्ममे इसे कही देखा हो।

विजय०—पूर्व-जन्मकी सब बाते आपको इस तरह जबानी याद हैं

उत्प०—आप परीक्षा ले सकते है।

बालक—जाने दीजिए, इस विषयमे आपकी परीक्षा लेनेवाला ससारमें कोई नही है। खैर, इस जन्ममे आप कौन है?

उत्प०—आचार्य्य।

बालक—यह तो अच्छी तरह समझमे आता है—और यह देश कौन है?

उत्प०—लंका, और इस नगरका नाम है ताम्रपर्णी।

बा०—रावण इसी लकाका राजा था?

उत्प०—हाँ लड़के, भला बतलाओ तो सही कि पूर्व जन्ममे तुम कौन थे?

बालक—पूर्व जन्ममे मै एक हताश-प्रेमिका था।

उत्प०—बहुत ठीक! तुम किससे प्रेम करते थे?

बा०—इन्हीं विजयसिंहसे। क्यो युवराज, आपको याद नहीं है? वही जो ब्राह्मणकी छोटीसी एक बालिका थी; मिट्टीका घरौदा बनाकर तोड़ डाला करती थी और जब कुछ खानेको पाती थी तब उसमेंसे आधा-सा आपको लाकर दिया करती थी।

उत्प०—आधा-सा दे दिया करती थी?

बालक—इन्हे बिना दिए मुझसे खाया ही न जाता था। इन्हे जब इनके पिता बेंत मारा करते थे—

विजय०—क्या ! मुझे बेंत मारते थे ?

बालक—हाँ, तो मैं आगे बढ़कर वह बेंत अपनी पीठपर रोक लेता । ऊ. ! अब भी उसका कुछ कुछ दरद मालूम होता है । इसके द जब इनके पिताने इन्हे घरसे निकाल दिया था—

विजय०—पूर्व-जन्ममें भी मेरे पिताने मुझे घरसे निकाल दिया था ?

बालक—हाँ, तब मैं इनके संग संग घूमता था । ये मेरी ओर खते भी न थे ।

उत्प०—ये तुमसे प्रेम नहीं करते थे ?

बालक—नहीं—

उत्प०—बहुत ठीक ।

बालक—" ठीक " क्या ?

उत्प०—तुम्हीं जान पड़ते हो !

बालक—अब तो आपने मुझे पहचाना ?

उत्प०—नहीं, मैने तो तुम्हे कभी नहीं देखा । लेकिन—

बालक—लेकिन क्या ?

उत्प०—विजयसिंह तुम्हारी बातें मुझे कभी कभी सुनाया करते थे ।

बालक—मेरी बातें सुनाते थे ? चलो छुट्टी पाई ।

उत्प०—विजयसिंह भी तुमसे प्रेम करते थे ।

बालक—मुझसे प्रेम करते थे ? आह ! क्या अच्छा होता यदि ह बात मुझे पूर्व-जन्ममें ही मालूम हो जाती !

विजय०—आप दोनों आदमियोंने मिलकर कोई जाल तो नहीं रचा ? पूर्व-जन्ममें मैं चाहे जो कुछ रहा होऊं, इससे कोई मतलब नहीं । र क्या आप यह बतला सकते हैं कि इस समय मेरे साथी लोग कहाँ ? वे लोग इसी ओर आए थे ।

उत्प०—कितने आदमी थे ?

विजय०—सात सौ।

उत्प०—ठीक।

बालक—क्या उनका भी पूर्व-जन्मके साथ मिलान हो गया ?

उत्प०—ठहरिए, आपको मायासे अभेद्य कर दूँ। (हाथमे सूत बाँधते है।)

बालक—अरे यह बाँध क्या दिया!

( उत्पलवर्ण मंत्र पढकर विजयके शरीरपर जल छिडकते हैं। )

विजय०—यह और क्या कर दिया ?

उत्प०—आप लंका जीतेगे।

विजय०—यह क्या! आपने मुझे पागल समझ रक्खा है ? (कड़ी आवाजसे) मेरे साथी कहाँ है ? जल्दी बतलाइए! नही तो—(तलवार निकालते है।)

उत्प०—इतने तेज मत बनो भइया! आपको तलवार निकालनी पड़ेगी—लेकिन अभी नही। आपके साथियोको कैद कर लिया है।

विजय०—किसने ?

उत्प०—लंकाके महाराजने।

विजय०—किस तरह ?

उत्प०—मायाके बलसे। ये यक्ष मायाके बलसे अजेय होते हैं। लेकिन यक्ष-कन्या कुवेणीने अपनी मायाके बलसे उन सबका उद्धार किया है। मै माया-बल नही जानता। लेकिन माया-बलका प्रतिरोध करना मुझे आता है। ये देखिए, आपके साथी लोग आ रहे हैं।

[ विजयके साथियोका प्रवेश। ]

साथी—जय! युवराज विजयसिंहकी जय!

उत्प०—आप इन्हीं सातसौ सैनिकोको साथ लेकर लंका जीतेगे। पहले भी ऐसा ही हुआ था। इस बार भी ऐसा ही होगा। आप लकाके राजा होगे और कुवेणी रानी होगी। जाइए, युद्धके लिए तैयार होइए, कल युद्ध होगा।

( विजय और बालकके अतिरिक्त सबका प्रस्थान। )

ली०—मित्र, मुझे तो बड़ी हँसी आ रही है।

विजय०—क्यो ?

ली०—एक बातका ख्याल करके।

विजय०—किस बातका ?

ली०—युद्धका।

विजय०—क्या युद्ध हँसीकी चीज है ?

ली०—क्यो ? युद्ध हँसीकी चीज नहीं है ? एक पशु घास खा रहा है, पासकी भूमिमे और भी एक पशु घास खा रहा है। पहले पशुने दूसरेको देखा। उससे रहा न गया। उसने कहा कि मैं अपनी घास नहीं खाऊँगा, उसकी घास खाऊँगा। भई क्यो ? इस लिए कि वह घास बहुत मीठी है। दूसरा पशु यदि कहे कि अच्छा, तो मै तुम्हारी घास खा लूँगा। नही, मैं यह घास खाऊँगा और वह भी घास खाऊँगा। दोनो ही जगहकी खाऊँगा। तुम नहीं खाने पाओगे। केवल मै ही जीता रहूँ, तुम्हारे बच्चे रहनेकी तो कोई जरूरत नही है।

विजय०—ठीक कहते हो।

बालक—तो फिर मेरा गला पकड़कर जोरसे दवा दीजिए।

विजय०—क्यो ?

बालक—इस लिए कि आपमे बल अधिक है। अप्रिय सत्य बात कहनेका मुझे क्या अधिकार है ?

विजय०—बालक, तुम ठीक कहते हो। तुम कौन हो? तुम अपने मनसे इस तरह बोले जाते हो—जैसे कोई पागल पागलपनकी बातें करता हो! पर ऐसा नहीं है। इन तुम्हारी बातोंके भीतर ढेरके ढेर मतलब भरे है।—तुम कौन हो?

( विजय बालकका हाथ पकड़ते हैं। बालक बडी तेजीसे अपना हाथ खींच लेता है। मानो हाथमे सॉपने काट लिया हो। )

विजय०—क्या हुआ? चोट तो नही लगी?

बालक—लगी है। बहुत जोरसे लगी है। लेकिन हाथमे नहीं लगी—( कलेजेपर हाथ रखकर ) यहॉ, यहाँ लगी है। आपने यह क्या किया मुझे छूआ क्यो? यह क्या किया!

विजय०—क्यो, मैंने क्या किया?

बालक—अब तो मुझसे नही रहा जाता। समुद्रका यह निर्ज किनारा है, सन्ध्याका यह मधुर समय है, आकाशमे यह चन्द्रमा निक रहा है।—प्रियतम! प्राणाधिक!—नही, नहीं—राजाधिराज! कुछ भी नहीं चाहता। क्षमा कीजिए। ( प्रस्थान। )

वि०—बडे आश्चर्य्यकी बात है!

---

## छठा दृश्य।

स्थान—लकाका राजमहल। समय—सध्या।

[ कालसेन और जयसेन। ]

काल०—जयसेन, युद्धकी क्या खबर है?

जय०—पिताजी, मुझे तो कुछ भी नहीं मालूम।

काल०—तुम युद्धसे नहीं आ रहे हो?

जय०—जी नहीं।

काल०—तब इतनी देरतक कहाँ थे ?

जय०—महलकी छतपर।

काल०—महलकी छतपर ! वहाँ क्या कर रहे थे ?

जय०—युद्ध देख रहा था।

काल०—युद्ध देख रहे थे ! क्यो कॉप क्यो रहे हो ?

जय०—पिताजी, इस युद्धमे हम लोगोकी अवश्य हार होगी।

काल०—कौन कहता है ?

जय०—विजयसिंह तो देवराज इन्द्रकी तरह युद्ध कर रहे है। ज्यो ही हमारी सेना उनपर आक्रमण करने जाती है, त्यो ही उनके तीरोके आघातसे धूलकी तरह उड जाती है। विजयसिंह साक्षात् यम मालूम होते हैं। ऐसी भीषण मूर्ति मैंने कभी देखी ही नहीं। कैसी भयानक है ! लंकाका पराजय अवश्य होगा।

काल०—इसीलिए कॉप रहे हो ? कायर ! तुच्छ मनुष्योके साथ युद्धमें यक्षोका पराजय होगा ! क्या बकते हो ? तुच्छ मनुष्योके साथ !—

[ उत्पलवर्णका प्रवेश। ]

उत्प०—महाराज, स्वयं भगवान् ही मनुष्यका रूप धरकर लंकामे आए हैं।

काल०—लेकिन बगालके विजयसिंह तो भगवान् नहीं है।

उत्प०—महाराज कालसेन भी तो शमनजयी रावण नहीं है—राजकुमार जयसेन भी इन्द्रजित मेघनाद नहीं है।

काल०—लेकिन सात सौ सैनिक—

उत्प०—महाराज, जब समय पूरा हो जाता है तब सभी असम्भव बाते सम्भव हो जाती है। लकामें यक्षोके राज्यकी आयु समाप्त हो गई है—अब मनुष्योका युग आया है।

काल०—कौन कहता है ?

उत्प०—मैंने देखी है ।

काल०—क्या देखी है पुरोहित ?

उत्प०—भविष्यद्वाणी ।

काल०—देखी है ? कहाँ ?

उत्पल०—आगके अक्षरोंमें लिखी हुई ।

काल०—कहाँ ?

उत्प०—आकाशके सघन परदेपर । सुनिए, मनुष्य जय-ध्वनि कर रहे हैं ! क्यों महाराज, आप डरसे पीले पड़ गए ? अब रक्षा नहीं है । सावधान ! ( प्रस्थान । )

काल०—है ! यह फिर मनुष्योंकी जयध्वनि हो रही है ! मुझे तो बिलकुल अन्धकार मालूम होता है ! पैर क्यों काँप रहे हैं ! फिर जोरसे मनुष्योंकी जयध्वनि हो रही है !—कहीं कोई है ? हमें बचाओ, हमें बचाओ !

नेपथ्यमें वसुमित्रा—भागिए ! भागिए !

[ वसुमित्राका प्रवेश । ]

काल०—कौन—तुम कौन हो ?

वसु०—चलिए, चलिए—भाग चलें ।

काल०—कहाँ ?

वसु०—समुद्रकी तरफ, सघन वनकी तरफ, पर्वतकी तरफ ! जिधर बन सके, भाग चलें ।

काल०—भागें !

वसु०—हाँ, चलिए, भाग चलें ।

काल०—बचाओ, बचाओ, विरुपाक्ष !

वसु०—महाराज, इस संकटसे आपको कोई नहीं बचा सकता ।

काल०—क्यो ? साफ साफ कहो। है ! यह तो रह रहकर शत्रुकी जयध्वनि हो रही है ! यह क्या वसुमित्रा ! पत्थरकी मूरतकी तरह टक लगाकर क्यो देख रही हो ? वसुमित्रा !

वसु०—महाराज, भाग चलिए। नहीं तो अब रक्षा नही है।

काल०—क्या हुआ ? साफ साफ कहो।

वसु०—महाराज आपको कुवेणीका ध्यान है ?

काल०—वह तो मर गई।

वसु०—महाराज, वह मरी नहीं। कल रातको मैने उसे देखा था।

काल०—कहॉ ?

वसु०—स्वप्नमे। मैने देखा था कि वह विजयसिंहके पास खडी है। योद्धाओका सा वेश था, सोनेके टोपके नीचे उसके बिखरे हुए बाल थे, चेहरा चमक रहा था; ऑखोके कोनोमे गहरी कालिमा थी। उसने कहा—"मॉ, भाग आओ।" मैने जाना नही चाहा। थोड़ी ही देरमे वह आकाशमे मिल गई। किन्तु विजयसिंह खड़े रहे। चलिए, भाग चले।

काल०—यह तो खाली स्त्रीका स्वप्न है।

वसु०—नहीं, कोरा स्वप्न नही है। इसके बाद जब मै सोकर उठी, तब मैने फिर देखा—सामने कुवेणी खडी है ! मैने उसे जकड़कर पकड लिया। उसने मेरा हाथ पकड़कर कहा—"मॉ, चलो, आओ।" मैने कहा कि "नहीं, मै नहीं जाऊँगी।" उसने बहुत कहा, पर मै नही गई। इसके बाद—इसके बाद वह चली गई।

काल०—तुम उससे छिपकर मिली थीं ?

वसु०—हॉ मिली थी। पर आपका मुँह क्यो सूख गया ? आइए आइए, भाग चले। ( हाथ पकड लेती है। )

काल०—( वीरेसे हाथ छुड़ाकर ) वसुमित्रा, यह सब तुम्हारा ही काम है !

वसु०—क्या मेरा काम है ?

काल०—तुम्हीं इन शत्रुओंको लंकामे बुला लाई हो। है! यह फिर विपक्षियोंकी जयध्वनि हो रही है! तब तुमने—

वसु०—नहीं, नहीं, यह मेरा काम नही है। यह मेरी कन्याका काम है।

काल०—एक ही बात है। हम नही भागेगे। हम यहाँ मरनेके लिए बैठे है, मरेगे। लेकिन तुम भी मरोगी।

वसु०—इसका क्या मतलब ?

काल०—हम तुम्हारी हत्या करेंगे! (वसुमित्राको जमीनपर गिराकर और उसके गलेपर तलवार रखकर) मरनेके लिए तैयार हो जाओ।

वसु०—नही, मेरे प्राण नहीं लीजिए। मेरा कोई दोष नही है।

काल०—अब इस बातका विचार करनेका समय नहीं है कि तुम दोषी हो या निर्दोष। पर हाँ—(मारनेके लिए तलवार उठाता है।)

वसु०—बचाओ! बचाओ! कही कोई हो, तो मुझे बचाओ।

काल०—देखो हम तुम्हे बचाते है। (तलवारके कई आघात करके मार डालता है।)

[ सैनिक वेशमे विजयसिंह और कुवेणीका प्रवेश। ]

कुवे०—लो ये तो यहाँ है। महाराज, महारानी कहाँ है ?

काल०—महारानी! कहाँकी महारानी ?

कुवे०—लंकाकी।

काल०—क्यो ? क्या काम है ?

कुवे०—अभी उन्हींके जैसी चिल्लानेकी आवाज सुनाई पडी थी।

काल०—तुमने सुनी थी ?

कुवे०—हाँ, मैने सुनी थी। आवाज आ रही थी—"मेरी हत्या मत करो। मुझे बचाओ।" उन्हींकी आवाज थी। वे कहाँ है ?

काल०—देखो, उस कोनेमे वह स्थिर मास-पिण्ड पड़ा है ।

कुवे०—( आगे बढकर ) माँ ! माँ !—है ! तुम बोलती क्यो नही ? माँ !—हैं ! यह क्या हुआ ?—खून ! खून ! आपने यह क्या किया ?

काल०—हत्या की है ।

कुवे०—आपने हत्या की है ?

काल०—हाँ, हमने हत्या की है ।

विजय०—( बढ़कर ) लंकेश्वर, तुमने स्त्रीकी हत्या की है ? अच्छा, तलवार निकालो ।

काल०—तुम कौन हो ?

विजय०—मै हूँ विजयसिंह । आओ, लड़ो ! कायर कहीका !

( दोनोका लडना और कालसेनका घायल होकर गिर पडना । )

कुवे०—( वसुमित्राकी लाशपर गिरकर ) माँ ! माँ !

# चौथा अंक

## पहला दृश्य

**स्थान**—लंकाका एक निर्जन प्रान्त।

**समय**—संध्या।

[ विरूपाक्ष और विशालाक्ष। ]

विरू०—अच्छा तो अब विजयसिंह राजा बन बैठे है?

विशा०—और नहीं तो क्या?

विरू०—जिस समय ये विजयी वीर लंकाके सिंहासनपर बैठे थे, उस समय यहाँके लोगोके कैसे भाव थे?

विशा०—विजयसिंह लंकाके उसी पुराने जड़ाऊ सिंहासनपर बैठे थे। उनके अनुचरोने उच्च स्वरसे कहा—"जय! लंकाके महाराज विजयसिंहकी जय!" उसी समय महलमे जय-वाद्य बजने लगे। दुर्गपर बंगालका सफेद झण्डा फहराने लगा। सभासदोने भी जयध्वनि की।

विरू०—लंकावाले जयध्वनिमे सम्मिलित नहीं हुए?

विशा०—वे भी सम्मिलित हुए थे।

विरू०—घर-घर शंखकी ध्वनि नहीं हुई थी?

विशा०—हुई थी।

विरू०—पुरोहित लोग उपस्थित थे?

विशा०—हाँ, थे।

विरू०—किसीने कुछ कहा था?

विशा०—एक तरुण तापसने कहा था—" जय ! महाराज जयसेनकी जय । "

विरू०—सच ? वह तापस कौन था ?

विशा०—माळूम नहीं ।

विरू०—धन्य तापस ! इसपर किसीने कुछ कहा था ?

विशा०—नही । विजयसिंहने एक बार उसकी तरफ देखा था । इतनेमे अचानक उनका दीप्त मुखमंडल गभीर हो गया । इसके बाद वे फिर अपने प्रिय अनुचरोके साथ बाते करने लगे ।

विरू०—इसके बाद और भी कुछ हुआ ?

विशा०—आज सबेरे रानी कुवेणीके साथ महाराज विजयसिंहका विवाह हो गया ।

विरू०—( गम्भीर होकर ) हूँ !

विशा०—राजकुमार जयसेनने इस विवाहमे आकर बाधा दी थी। इसपर रानीने उन्हे कारागारमे बन्द कर दिया ।

विरू०—किस अपराधपर ?

विशा०—जयसेन उन्मत्त होकर विवाह-मडपमे विजयसिंहकी हत्या करने गए थे । रानीने उन्हे पागल बतलाकर कारागारमे भेज दिया।

विरू०—अच्छा ! तब ?

विशा०—आज रातको राजदम्पतिके विवाहका उत्सव होगा ।

विरू०—अच्छा ! अब तुमने क्या करना विचारा है ?

विशा०—अब हम लोग क्या करेगे ?

विरू०—शत्रुके सेनापति बनोगे ?

विशा०—क्यो नहीं बनूँगा ? जब लंका स्वाधीन थी तब युद्ध किया था । अब लंका जीती गई, अब झगड़ा करना पाप है ।

विरू०—तुम लंकाके निवासी होकर एक बंगालीकी नौकरी करोगे यक्ष होकर मनुष्यके नौकर बनोगे ?

विशा०—लेकिन वे क्या ऐसे वैसे मनुष्य है ! विजयसिंहको देखक उनके प्रति तुम्हारे मनमे भक्ति नही होती ?

विरू०—क्या कहा ? भक्ति ! बात तो बहुत अच्छी कही । मनु ष्यकी भक्ति !

विशा०—विरूपाक्ष, तुम्हारा यह बिगड़ना व्यर्थ है । यक्षोका युग गया । अब मनुष्योका युग आया है । पर हॉ, मनुष्य भी यदि सचमुच मनुष्य हो तो ।

विरू०—सेनापति, यदि यक्षोका युग गया तो मै भी उनके साथ चला जाऊँगा ! ज्योत्स्नाके नष्ट हो जानेपर निर्लज्ज कलंकी चन्द्रमाकी तरह, आकाशमे डरसे पीला होकर खड़ा खड़ा सूर्य्यकी ओर मै नहीं देखता रहूँगा ।

विशा०—राज्य-शासन करनेमे असमर्थ, अत्याचारी कालसेनका उच्छृंखल राज्य तो जाना ही चाहिए । विजयसिंहने तो केवल विधाता-की आज्ञाका पालन किया है । उनकी जय हो !

विरू०—अच्छा ! आजसे मै तुम्हारा शत्रु हुआ !

विशा०—( हाथ पकड़कर ) विरूपाक्ष, जरा अच्छी तरह समझ-बूझ लो ।

विरू०—जाओ, सब समझ लिया । (हाथ छुड़ाकर जल्दीसे प्रस्थान ।)

विशा०—विरूपाक्ष, तुम्हारा यह बिगड़ना व्यर्थ है । चाहे राज्य हो, चाहे शिल्प हो, और चाहे धर्म्म हो, नएके सामने पुराना नही ठहरता । आकाशमे बादल उमड़ रहे हैं । लेकिन पानी नही बरसता, हवा भी बिलकुल नहीं चलती । कैसी कड़ी गरमी है !

[ बाते करते हुए उत्पलवर्ण और तरुण तापसका प्रवेश ]

ता०—हाँ, तो पुरोहितजी, बंगालके विजयसिंहको आप ही लंकामे खींच लाए है ?

उत्प०—नही, उन्हे मै नही खीच लाया, बल्कि भाग्य खीच लाया है।

ता०—भाग्य ? कभी नही। मनुष्य अपना भाग्य स्वयं ही बनाता है।

उत्प०—तुम्हारा यही विश्वास है ? अहंकार सदा इस बातका अहकार करता है कि मैं अकेला ही अपने आपका भविष्यत् गठन करता हूँ। लेकिन वह इसी सीमाके अन्दर है। इसमेसे बाहर निकलना उसकी शक्तिके बाहर है। ये विजयसिंह इस अवस्थामे सदा आए थे, आज आए हैं और सदा आते रहेगे।

ता०—और आप उन्हे आदरपूर्वक लाकर अपने घरमे बैठावेगे ?

उत्प०—मै भी तो भाग्यके ही अधीन हूँ।

ता०—भाग्यके अधीन ? या विश्वासघातक !

उत्प०—हाँ, मैं विश्वासघातक हूँ। लेकिन यह भी भाग्यकी ही बात है !—बतलाओ मै क्या करूँ ? मैं जानता था कि मै विश्वासघातक होऊँगा। विजयसिंह लंकाको जीतेगे। तुम व्यर्थ बिगड़ोगे। मैंने तो यह ललाटकी लिपि पढी है। जो जो होता है, वह सब मैं जानता हूँ।

ता०—और भविष्यमे जो होगा ?

उत्प०—वह भी मै जानता हूँ।

ता०—आप जानते है कि आपकी मौत आपके सामने खड़ी है ?

उत्प०—नही, अभी मेरी मौत बहुत दूर है। अभी मेरा काम पूरा नही हुआ। अभी मेरी मौत बहुत दूर—

ता०—नहीं, अभी इसी समय आप मरेगे।

उत्प०—नहीं, अभी तो वह बहुत दूर—

ता०—अच्छा, तो वह पास आई जाती है। देखिए। (उत्पल-वर्णका गला पकड़कर बगलमेंसे छुरी निकालना और मारनेके लिए हाथ उठाना। इतनेमें विशालाक्षका आकर तापसका हाथ पकड़ लेना।)

विशा०—खबरदार!

ता०—तुम कौन?

विशा०—पुरोहितकी हत्या मत करो। (तापसके हाथसे जबरदस्ती छुरी छीनकर फेंक देना।)

ता०—आज आपको मैं मार न सका।

उत्प०—यह तो मैं पहले ही जानता था!

(सब जाते हैं।)

---

## दूसरा दृश्य
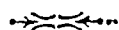
**स्थान**—लंका

[ बालकके वेशमें लीला और कुवेणी। ]

बा०—महारानी, आप क्या सोच रही हैं?

कुवे०—गाढ़ भविष्यत्।

बा०—उसकी चिन्ता करनेसे क्या होगा? यह गाढ भविष्यत घना अन्धकार है! इस अन्धकारमें कोई प्रवेश नहीं कर सकता। तब भी बड़े आश्चर्यकी बात है कि मनुष्य अपने भविष्यके भयसे व्याकुल रहता है—व्यर्थ समय नष्ट करता है।

कुवे०—नहीं तो फिर वह और क्या सोचे? भूत-काल—बीती हुई बातें?

वा०—क्यों, इसमें बुराई ही क्या है ?

कुवे०—जो बीत गया, वह तो बीत ही गया।

वा०—लेकिन फिर भी भविष्यत्से वह अच्छा ही है गुरूजी! बीती हुई बातोंसे फिर भी कुछ शिक्षा मिल सकती है।

कुवे०—भूत सच पूछो तो विज्ञान है और भविष्यत् कवित्व है।

वा०—भूत माता है और भविष्यत् पत्नी है। भूत सदा करुणाकी तरह स्नेहपूर्वक गले लगाकर रोता है, मस्तकपर आशीर्वादकी वर्षा करता हुआ रोता है, और भविष्यत् केवल देखा करता है, केवल नालिश किया करता है।

कुवे०—भूतकी स्मृतिका मूल्य है। यह अतीत पतितके लिए मधुर है। वह कहा करता है—"हायरे वह दिन!"

वा०—वह दिन सदा ही "हायरे वह दिन!" है। मनुष्य वर्त्तमान सुखके दिनोंमें सदा ही भूतकी ओर देखकर कहता है—"हायरे वह दिन!" मनुष्य भी कितना बड़ा कृतघ्न है!

कुवे०—क्यो ?

वा०—मनुष्यका स्वभाव ही ऐसा है कि वह सदा शिकायत करता रहता है। अपनी अवस्था देखकर कोई सुखी नहीं है। वर्त्तमान उसके लिए कभी यथेष्ट नहीं होता। बीती हुई बाल्यावस्था सदा ही "हायरे वह दिन!" रहती है। लेकिन मैं तो समझता हूँ कि बाल्यावस्थामे बिलकुल सुख नहीं है।

कुवे०—क्यो ?

वा०—रोज नया सबक याद करना भला किसे अच्छा मालूम होता होगा। घरपर पिताजी और पाठशालामे गुरूजी। एक तरफ शेर और दूसरी तरफ समुद्र। समझमें नहीं आता कि किधर जायँ। उस समय मनमे आता है कि कहीं रास्तेमें ही एक छाता लेकर बैठे रहें।

कुवे०—तुम्हारे गुरुजी क्या तुम्हे बहुत मारते थे ?

बा०—और नही तो क्या ! इसीलिए तो मै देश छोड़कर भागा।

कुवे०—और तुम्हारे पिताजी ?

बा०—वे मारते तो नही थे पर घुड़कते बहुत थे।

कुवे०—तुम्हारी माँ जीती है ?

बा०—नही।

कुवे०—विवाह हुआ है ?

बा०—शायद हुआ है, लेकिन ठीक याद नही है।

कुवे०—याद नही है ?

बा०—हाँ, याद नही आता।

कुवे०—आश्चर्य्यकी बात है !

बा०—बड़े आश्चर्य्यकी बात है !

कुवे०—विजयसिंहजीके साथ तुम्हारी कितने दिनोसे जान पहचान है ?

बा०—पूर्व-जन्मसे। पूर्व-जन्ममे मैं उनकी स्त्री था।

कुवे०—स्त्री थे ?

बा०—हाँ, स्त्री था।

कुवे०—पूर्व-जन्ममे वे तुमसे प्रेम करते थे ?

बा०—वे तो मेरा मुँह भी नहीं देखते थे।

कुवे०—क्यो ?

बा०—शायद इस लिए कि मैं देखनेमे सुन्दर नही था।

कुवे०—नहीं, तुम तो देखनेमे बहुत सुन्दर जान पड़ते हो।

बा०—हाँ, कुछ ऐसा बुरा भी नहीं हूँ।

कुवे०—नही, असल बात यह है कि विजयसिंह प्रेम करना जानते ही नहीं। उन्हे यह भी नही मालूम कि प्रेम करना किसे कहते है।

बा०—क्यो ? आपके तो वे खूब पालतू हो गये है !

कुबे०—मैंने तो मंत्रके बलसे उन्हे अपने वशमे कर रक्खा है। इसी जादूकी छड़ीके ज़ोरसे मै उन्हें अपने वशमे रखती हूँ। प्रेमसे नही।

बा०—तो भी आप उन्हें अपने वशमे तो रखती हैं!

कुबे०—लेकिन उससे तृप्ति नहीं होती।

बा०—क्यों?

कुबे०—यह हृदयकी भूख है। तुम अभी बालक हो, प्रेमके सम्बन्धमे अभी तुम क्या जानोगे!

बा०—नही, मै कुछ कुछ तो जानता हूँ।

कुबे०—जानते हो?

बा०—हॉ, आप मेरी परीक्षा ले लीजिए।

कुबे०—अच्छा, बतलाओ तो प्रेम कैसा होता है?

बा०—प्रेम दो तरहका होता है।

कुबे०—किस किस तरहका?

बा०—एक प्रेम तो वह है कि जिसके कारण सदा यही जी चाहता है कि जिसे हम चाहते हैं वह केवल हमारा ही होकर रहे। उसमें यह नहीं देखा जा सकता कि उसपर और भी कोई प्रेम करे। वह प्रेम फूलोंके समान कोमल और क्षीण भुजाओंसे एक संसारको जकड़ रखना चाहता है—एक अगाध अस्थिर समुद्रको अपने हृदयमें बन्द करके रखना चाहता है।

कुबे०—तुमने बहुत ठीक कहा। मेरा प्रेम ऐसा ही है—सर्वग्रासी अधीर, असह्य और अस्थिर। संसारमे मैं और किसीको नही जानती, किसीको नहीं मानती, कुछ नहीं चाहती, केवल उन्हींको चाहती हूँ। यह चन्द्रमा, यह समुद्र, यह ठाठ-बाट बिलकुल अच्छा नहीं मालूम होता, केवल चित्रसा जान पड़ता है। मस्तिष्कमें एक

ही चिन्ता, हृदयमे एक ही भाव, जीवनका एक ही लक्ष्य, इस समयका एकमात्र सुख—बस उनका प्रेम ।

बा०—मै समझ गया, आप प्रतिदानके लिए व्याकुल है। लेकिन श्रीमतीजी, एक और तरहका प्रेम होता है—जो प्रेम जगतके कल्याणके लिए अपने आपको सदा जाग्रत रखता है, अपनेको विश्वमय बना देता है, और दूसरोको सुखी करके स्वयं सुखी होता है । यदि उनका प्रेम मुझे एक कण भी मिल जाय तो मै अपने आपको धन्य समझूँ । लेकिन यदि न मिले, तो भी कोई चिन्ता नही, क्योकि मै उस प्रेमकी आशा नही करता । श्रीमतीजी, आप एक बार इस प्रकारका प्रेम भी कर देखे । उस समय आप समझ लेगी कि अब भय नही है, दुविधा नही है, उद्वेग नही है और चिन्ता भी नही है ।

कुवे०—ये सब तो कहनेकी बाते है ।

बा०—यदि मै यह भी मान लूँ कि ये सब कहनेकी बाते है, तो भी आप उसी मंत्रका जप कीजिए—कामनाहीन प्रेमका जप कीजिए ।

कुवे०—केवल कामना-हीन प्रेम ! यह तो केवल एक बात है ।

बा०—यदि केवल बात ही हो, तो भी क्या उसका कुछ मूल्य नहीं है ? बात—शब्द—ध्वनिमात्र यदि बराबर कानोमे पड़ती रहे, तो सम्भव है कि किसी शुभ मुहूर्त्तमे वह हृदयका द्वार खुला पाकर उसमे प्रवेश कर जाय । हमारे देशके लोग सदा ईश्वरका नाम जपते रहते हैं—केवल जपते है और कुछ नही करते । लेकिन जान पड़ता है कि इस जपनेका कोई गूढ अर्थ है । सम्भव है कि कोई संयोग पाकर वही निराकार नित्य निरजन, वही ईश्वरका नाम कोई आकार धारण कर ले, सम्भव है कि उसी एक शब्दसे किसी समय हृदयकी वीणा बज उठे । और अवश्य ही ऐसा हुआ भी है, नहीं तो लोग जप क्यो करते है ?

कुवे०—बालक, तुम कौन हो ?

बा०—महारानी, यही तो इतने दिनोतके मेरी समझमे नहीं आया। यह तो कुछ कुछ मैने समझ लिया कि आप कौन हैं, लेकिन यही मेरी समझमे न आया कि मै कौन हूँ। मै कौन हूँ? इस संसारमे क्यो आया हूँ? देश छोडकर विदेशमे क्यो घूम रहा हूँ? मै क्या चाहता हूँ? क्यो प्रेम करता हूँ? यदि मै प्रेम न भी करता, तो भी उससे उनका क्या बनता-बिगड़ता था? क्या वे भी कभी मुझे समझ सकेगे?

कुवे०—वे कौन? बालक, तुम किसको चाहते हो?

बा०—छि: छि: छि:! मै क्या कह गया, क्या कह गया!—महारानी, वे आपके हैं! मेरे कोई नहीं है, कोई नहीं हैं! ( प्रस्थान )

[ धीरे धीरे विजयका प्रवेश ]

कुवे०—यह मेरे प्रीतम आ रहे है। ( जल्दीसे आगे बढकर ) आओ, आओ, प्राणेश्वर—नाथ—वल्लभ—सर्वस्व—मैं नहीं जानती कि मै तुम्हें क्या कहूँ। क्योजी, तुम मुझसे प्रेम करते हो?

विजय०—अभी यहॉ वह बालक था?

कुवे०—नाथ, तुम उसकी चिन्ता क्यो करते हो? जो था, सो था—अब तो तुम आ गए हो, और कोई नहीं है। केवल तुम हो और मै हूँ, और कोई नहीं है। संसारमे और कुछ भी नहीं है—चन्द्रमा और सूर्य्य नहीं है, आकाश और नक्षत्र नही है, सागर और पर्वत नही है, वन और जगल नहीं है। केवल तुम और हम है! यही दोनो संसार हैं, यही दोनो वासना है, यही दोनो चेतना है, यही दोनो सृष्टि है, यही दोनो प्रलय है, यही दोनो स्वर्ग है, और यही दोनो नरक है।

विजय०—कुवेणी, क्या तुम पागल हो गई हो?

कुवे०—हॉ प्यारे, मै तुम्हारे प्रेममे पागल हो गई हूँ। प्यारे, मै तुम्हे बहुत चाहती हूँ—बहुत ही अधिक चाहती हूँ।

विजय०—यह तो तुम अनेक बार कह चुकी हो ।

कुवे०—लेकिन फिर भी जी नही भरता । और कुछ कहनेको जी ही नही चाहता, और कुछ कह भी नही सकती, और कुछ अच्छा ही नहीं लगता । और जो कुछ मुझे आता था वह सब मै भूल गई । अब मै केवल एक ही बात जानती हूँ—" तुम्हे प्यार करती हूँ । " यह बात कितनी मीठी है, इसमे कितना माधुर्य्य है, कितना सघन आनन्द है, कितना भाव है, कितना छन्द है, कितने नए नए छुपे हुए गूढ़ अर्थ है, कितने धन-रत्न, कितने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, कितनी शान्ति, कितनी पुण्य-राशि, कितने जन्म-जन्मान्तर है—! नाथ !—संसारमे प्यारके सिवाय और है ही क्या ? केवल ईर्षाको निकाल लीजिए, फिर देखिए, यहाँ और क्या बच रहता है ? केवल धूल और राख रह जाती है ।

विजय०—कुवेणी, तुम इतनी अस्थिर—इतनी उद्दाम-प्रवृत्ति हो ! तुम तो बिलकुल पहेली-सी जान पड़ती हो ।

कुवे०—क्यों ?

विजय०—जिस दिन पहले-पहल हमारी तुम्हारी बातचीत हुई थी उस दिन, याद है, तुमने मुझसे क्या कहा था ?

कुवे०—क्या कहा था ?

विजय०—तुमने रानीके समान बड़ी शानसे गरदन टेढ़ी करके और तर्जनी उँगली हिलाकर कहा था—" भिक्षुक, मै तुम्हे यह रूप-दान करती हूँ, भिक्षा लो । " और आज तुम इस प्रकार कातर होकर निवेदन कर रही हो । भिक्षुकोकी तरह दीन प्रार्थना कर रही हो ।

कुवे०—तुमको अपना सर्वस्व देकर ही तो मै भिखारिणी बन गई हूँ । एक दिन मैने बड़े अभिमानसे कहा था—" क्या मैं विवाह करूँगी ? किससे विवाह करूँगी ? संसारमें मेरे समान कौन है, जिसके

साथ मैं विवाह कर सकूँ ? ” इसके बाद मैने तुम्हें देखा! मैने समझा कि बस यही इस योग्य है, जिनके साथ मैं विवाह करूँ। वही जिन्हे ग्रीष्मकी कड़ी धूपमें, शरत्के मनोहर प्रभातमें, वर्षा ऋतुके नए बादलोंमें देखा था। मैने समझ लिया कि ये वही हैं, जिनका स्वर मैंने समुद्रके घोषमें, मृदंगकी ध्वनिमे, बादलकी गरजमे, उल्लासके उच्च हास्यमें, भक्तके कीर्त्तनमें सुना था। ये वही हैं, हृदयमे मैने जिनका अनुभव सत्यके प्रकाशमे, सरल विश्वासमें, और त्यागीके सन्यासमे किया था। मैंने तुम्हे देखा, पहचाना, और एक ही बारमें अपना सब कुछ दे दिया।

विजय०—क्यों दे दिया ? तुमसे किसने माँगा था ?

कुवे०—क्यों दे दिया ? यह तो मै स्वय नहीं जानती!—बडे ही आश्चर्य्यकी बात है! क्यो दे दिया!—वह भी मैं ही थी और यह भी मै ही हूँ!

विजय०—कुवेणी, तुम क्या सोच रही हो ?

कुवे०—बाल्यावस्थामे ही मैं बडी उद्दाम-प्रवृत्ति थी। वनोमें, जंगलोंमें, और रेतमे अस्थिर वासनासे मैं बेरोक घूमा करती थी। मानो कोई मुझे अकुश मारकर चला रहा हो। मैं क्रोधसे मत्त, सुखसे दृप्त, वासनासे अन्ध, दुःखसे ज्वालामय और आनन्दसे अधीर रहती थी। यही कुवेणीका पिछला इतिहास है। इसके बाद—

विजय०—इसके बाद—

कुवे०—नही, नही, मैने भिक्षा नहीं दी थी। मैने अपने राजाको राज-कर दिया था। अशान्त शेरनीने किसी जादू या मन्त्रके बलसे अपने स्वामीको पहचान लिया और यह झुककर उनके पैरोपर गिर पडी और लोटने लगी। उद्दण्ड प्रवृत्तिके दुर्वल उच्छ्वासका अन्त

हो गया। तूफ़ानके बाद यह क्षुब्ध समुद्र शान्त होकर सूर्य्यकी अर्चना करने बैठ गया। तुमने क्या कर दिया प्यारे! तुमने क्या कर दिया ?

विजय०—क्यो, मैंने क्या कर दिया ?

कुवे०—मैंने तुम्हे अपना सब कुछ दे दिया! रूप, यौवन, स्वदेश, सिंहासन, पुरानी गरिमाकी स्मृति, बाप, माँ, अपना पराया, सब कुछ दे दिया! एक बारगी मैंने सब कुछ तुम्हे दे दिया! मै राजकुमारीसे दासी हो गई। और मैंने ही अपनी माँको एक बार रानीसे दासी होनेके कारण झिड़का था!—माँ! माँ! क्षमा करना। तुम मुझे क्षमा करना। ( हाथ जोड़कर और घुटने टेककर बैठना। )

विजय०—यदि तुम्हे इसमे कुछ आपत्ति हो, तो तुम सब कुछ फेर लो। मै चला जाऊँ।

कुवे०—नही, नही। तुम मत जाओ। जानेका नाम भी न लो। मै तुम्हे छोड़ न सकूँगी। मै तुम्हे जाने नही दूँगी। लो, लो, तुम सब कुछ ले लो। मेरे पास जो कुछ है वह सब तुम ले लो और जो नही है उसके लिए मुझे क्षमा करो! यह रूप क्या है! कुछ भी नही। यदि यह रूप सौगुना भी होता, तो मै इसे अर्घ्यके समान तुम्हारे चरणोमे अर्पित कर देती और यह द्वीप भी बहुत ही छोटा है! तुम्हारे योग्य नही है। अब न तो क्रोध है, न अभिमान है, न दुःख है, न सुख है, न इच्छा है और न भूख है!—है केवल अनन्त उल्लास!—अनन्त क्रन्दन—अनन्त नरक।

विजय०—नरक!

कुवे०—मै क्या कह रही हूँ। मत सुनो—मै जो कुछ कहती हूँ, उसे मत सुनो। आज मै पागलोकी तरह बकवाद कर रही हूँ। मेरा दिमाग खराब हो गया है। विकार! विकार! अनन्त दाह!—मैंने सब कुछ दे दिया! यदि मेरे पास और भी कुछ होता तो वह भी दे देती!

मेरा प्रेम भूखेका ग्रास है—वह आकर भूखका कण्ठरोध कर देता है। मै पागल हो गई हूँ। मेरी वाते न सुनो। हॉ, मैं गाती हूँ, मेरा गाना सुनो!

विजय०—हॉ प्यारी, गाओ।

कुवे०—मै गाती हूँ, लेकिन पहले जरा मेरे इन प्यासे होठोको अपने चुम्बनका अमृत दे दो। मै उस अमृतको पी लूँ—अमर हो जाऊँ। देश जाय, पिता-माता जायँ, मै भी जाऊँ।—अब मै गीत गाती हूँ।

विजय०—गाओ, गाओ। रुको मत। गाओ। चिन्तासे मेरा उद्धार करो।

कुवे०—किस बातकी चिन्तासे?

विजय०—तुम क्या समझोगी कि मुझे किस बातकी चिन्ता है! यह तुम्हारा देश है—तुम उसकी गोदमें झूला झूलती हो—आनन्द करती हो। लेकिन मैं तो अपना देश छोड़कर—

कुवे०—इतने दिनोमे भी तुम अपने देशको न भूल सके?

विजय०—क्या स्वदेश कभी भूला जा सकता है? सुखमे दुखमे, विपद्मे सम्पद्मे, प्रकाशमे अन्धकारमे, गौरवमे अपमानमे,—स्वदेश सदा स्वदेश ही है।

कुवे०—वही स्वदेश जिसने तुम्हे निर्वासित कर दिया है!

विजय०—स्वदेशका तिरस्कार माताके तिरस्कारके समान है—वह मधुर ही होता है।

कुवे०—यह लका तुम्हे अच्छी नहीं लगी? इसका इतना स्नेह, इतनी सुप्ति, इतना सौन्दर्य्य तुम्हे अच्छा नहीं लगा?

विजय०—कुवेणी, मै तुम्हारे द्वीपकी निन्दा नहीं करता। यह द्वीप अपूर्व है। फल, फूल, वन, पर्वत, उपत्यका, उपवन सभी बातोमे यह देश अपूर्व है। यह मानों एक मायाका देश है। गम्भीर समुद्र इसके प्राकारको चारो ओरसे घेरकर क्रुद्ध भुजंगकी तरह मानो पहरा दे रहा

है। इसकी वायुमे लौंगकी लताओकी सुगन्ध वही आती है। इसका आकाश सदा स्निग्धोज्ज्वल रहता है। यहाँ सदा वसन्त विराम करता है। लेकिन—

कुवे०—लेकिन क्या?

विजय०—लेकिन विमाता चाहे कितना ही स्नेह क्यो न करे, पर फिर भी वह विमाता ही है।—कुवेणी, वाल्यावस्थामे ही मेरी माता मर गई थी। उनके प्रेमका अव मुझे अच्छी तरह ध्यान नहीं आता। तव भी रह-रहकर मुझे उनकी वह मनोहर, सकरुण और स्नेहपूर्ण लोरी याद आती है, जिसे गाकर वे मुझे सुलाती थी—इतने दिनोपर भी उस मनोहर-वंशी-ध्वनिका मुझे कुछ कुछ स्मरण वना हुआ है। माता मुझे वाल्यावस्थामे ही छोडकर स्वर्ग सिधारीं। तवसे वही जन्मभूमि मेरी माता हुई। उसी दिनसे—

कुवे०—क्या! तुम वोलते वोलते चुप हो गए!

विजय०—कुवेणी, क्या संसारमे मेरे समान और भी कोई दुखी है? मैने अपनी दोनो माताएँ खो दीं। कुवेणी, क्या तुम जानती हो कि रातके समय जव तुम सुखसे सोई हुई थीं—जिस समय तुम्हारा यह गोरा शरीर शुभ्र शय्यापर उसी तरह पड़ा हुआ था जिस तरह समुद्रकी रेतपर ज्योत्स्ना पड़ती है—उस समय मै महलकी छतपर चला गया था और मुँडेरपर हाथ रखकर इस अशान्त और दिगन्तव्यापी कृष्ण समुद्रकी ओर देखने लगा था। उस समय मेरे चित्त-पटपरसे स्वदेशकी मधुर छवि मधुर स्वप्नके समान वह गई। वंगालके वे श्यामल खेत, वे धूसर नदियाँ, वह नीला निर्मल आकाश, वह चमकती हुई धूप, वे सुन्दर मलय-समीरके झोके, वह कोयलोकी कूक, वे मल्लाहोके गीत मुझे याद हो आए और ऑखोके सामनेसे क्षुद्र वर्त्तमान लुप्त हो गया। कुवेणी, क्या स्वदेश कभी भूला जा सकता है? और फिर ऐसा स्वदेश—जिसके पवनमे सुगन्ध, निकुंजमे सगीत, वृक्षोंमे अमृत, झरनोमे माताकी

स्तन-धार और आकाशमे देवताओंका आशीर्वाद हो—कभी भूल सकता है ? वह किसानोका अन्नभरा ऑगन, सती स्त्रियोकी हँसी, माताका स्नेह, पिताका—

कुवे०—नाथ, यह क्या ! सहसा तुमने सिर नीचे क्यो कर लिया ?

विजय०—नही, नहीं, तुम गाओ, नाचो, कोलाहलमे वर्त्तमानको डुवा दो ।—

कुवे०—( नाचनेवालियोसे ) तुम लोग नाचो ।

विजय०—लाओ, शराब लाओ । ( सहेलियोंका शरावका प्याला लाकर विजयसिंहके होठोसे लगाना और विजयसिंहका शराब पीना । ) प्यारी, तुम गाओ ।

कुवे०—( गाती है—)

ठुमरी झंझौटी ।

मन चाहे तो प्यारे ! चले आना यही ।<br>
चले आना यही, चले आना यही ॥ मन० ॥<br>
जहाँ सुख पाओ वही चले जाओ नाथ,<br>
मैं न लगा सकती निज दुःखको तुम्हारे साथ ।<br>
तुम सुखी रहो तो सब पूजे मेरी साध,<br>
पर हॉ मनमें निराशा कभी लाना नहीं ॥<br>
मन चाहे तो प्यारे० ।<br>
हो सकता है तुम्हें और कोई मिल जावे,<br>
मुझसे भी अधिक और वह प्रेम दिखलावे ।<br>
सब साध मिट जायँ कसक भी हट जावे,<br>
पर निराशाके दुखको उठाना नही ॥<br>
मन चाहे तो प्यारे० ॥<br>
चले जाओ पगसे इस दिलको कुचल करके,<br>
अथवा लगाओ दिलसे उस दिलपर धरके ।

पर वह सदा रहेगा तुम्हारे वश पड़के,
मेरी दुखियाकी सुधि बिसराना नहीं ॥
मन चाहे तो प्यारे चले आना यहीं ।
चले आना यहीं, चले आना यहीं ॥
मन चाहे तो प्यारे० ॥

( गीत सुनते सुनते विजयसिंह सो जाते हैं । )

कुवे०—नाथ, तुम चुप क्यों हो? सो गए! चल, चल, शीतल मन्द और सुगन्धित वायु, चल। मेरे प्यारेकी थकावट दूर कर!—विजय! प्यारे! प्राण-वल्लभ! मैं तुम्हें क्यों इतना चाहने लगी!—( पास जाकर मुँह देखना ) दीपक बुझा दूँ। ( दीपक बुझा देती है। वाह कैसी अद्भुत शोभा है! दीपककी लाल आभामें ऐसी शुभ्र चन्द्र किरणोंकी राशि छिपी हुई थी! जोत्स्ना घरमें आकर मानो इस बाहर सौन्दर्य्यका उत्सव देखनेके लिए मनुष्यके पैर पकड़कर मनाने बैठ गई है! समुद्र उन्मुक्त उदार गरिमासे मानो हिल रहा है। ऊपर चाँदनी रात है! वाह! कैसी शोभा है!

[ जुमेलियाका प्रवेश । ]

जुमे०—महारानी!

कुवे०—क्या है जुमेलिया? क्या हुआ?

जुमे०—आप नीचे दरवाजा खुला छोड़ आई थीं?

कुवे०—क्यों?

जुमे०—महलमें शत्रु घुस आए हैं।

कुवे०—कौन कहता है?

जुमे०—मैंने आपके शयनागारके पास अस्फुट कण्ठ-ध्वनि और पैरोंकी आहट सुनी है!

कुवे०—तुम वहाँ क्या कर रही थी?

जुमे०—सोई थी। अचानक मेरी नींद खुल गई और मैंने शब्द सुना। मानो पृथ्वी करवट बदलकर सो गई और वायु बोल उठी! इसके बाद—

कुवे०—चलो, देखूँ। पहरेवालियाँ कहाँ हैं?

जुमे०—इस कमरेके बाहर! (दोनो जाती है।)

[ धीरे धीरे बालकका प्रवेश। ]

बालक—महारानी इन्हे अकेले छोड़कर कहाँ चली गई? खैर जबतक वे न आवे, तबतक मै ही इनकी रक्षा करूँ। (विजयके पास जाकर) ये तो गहरी नींदमे सोए हैं। चन्द्रमाका प्रकाश आकर मुखपर पड रहा है। वाह! क्या सौन्दर्य है! एक वार अपने जीवनकी साध पूरी—नहीं, केवल निहारकर देखूँ। (देखना।)

[ कुछ दूरपर कुवेणी और जुमेलियाका प्रवेश। ]

कुवे०—वह सब तुम्हारा खाली खयाल था। जाओ, मजेमे सोओ।

बा०—केवल एक बार, इसमे बुराई ही क्या है? एक बार मैं भी अपने जीवनकी साध मिटा लूँ। मेरे भी तो ये है। एक बार—(विजयसिंहका मुँह चूमना।)

कुवे०—तुम कौन हो?

बा०—(घुटने टेककर) क्षमा करो! क्षमा करो! मैंने गलती की है। लेकिन मुझसे हो न सका। मैं अभागिनी हूँ—(दोनो हाथोसे अपना मुँह ढँक लेती है।)

कुवे०—मेरे साथ आओ! (दोनो जाती हैं।)

[ पाँच सैनिकोंके साथ विरूपाक्षका प्रवेश। ]

विरू०—(ठमक कर) यही तो है। गहरी नींदमे सोया हुआ है। अकेला है।—इतने सहजमे मेरा काम हो जायगा, यह तो मैंने स्वप्नमें भी नहीं सोचा था।—सो रहा है! यह बेचारा क्षुद्र युवक है, पर समरमे

अजेय वीर है—आश्चर्य्य ! किस तरह चुपचाप पड़ा है !—जरा
हिलता डोलता नही । केवल साँस आने जानेके कारण छाती हिल रह
है ! कैसी गहरी नींदमे सोया हुआ है ! नहीं, इस सोए हुए कोमल
शरीरपर मुझसे हथियार न चलाया जायगा । जो बात मैने अपने
जन्ममे कभी नही की, वह आज भी मुझसे न होगी । अच्छा जगा
देता हूँ । विजयसिह ! वीरवर ! उठो ।

विजय०—( उठकर ) पिताजी ! है ! यह क्या ! मै कहाँ हूँ
यह तो पिताजी नही है ! यह तो जन्मभूमि नही है ! —स्वप्न
स्वप्न !—तुम कौन हो ?

विरू०—विरूपाक्ष !

विजय०—क्या चाहते हो ?

विरू०—अस्त्र लो और मुझसे युद्ध करो ।

विजय०—क्यो ?

विरू०—मै या तो तुम्हे मारूँगा और या स्वयं मरूँगा । बस मैं
यही चाहता हूँ । और कुछ नहीं ।

विजय०—इसका कारण ?

विरू०—कारण बतलानेकी आवश्यकता नहीं । मै तुम्हें मार डालनेके
लिए आया था । लेकिन मैने देखा कि तुम सोए हुए बालकके समान
असहाय हो, तुमपर लंकाके आकाशकी चॉदनी आकर पड़ रही है और
लंकाकी हवासे तुम्हारी काली अलके हिल रही है । मै हत्या न कर
सका । सदासे मैने युद्ध ही किया है । हत्या कभी नही की । इसीसे
मैं आज भी तुम्हारी हत्या न कर सका । अब तुम अस्त्र लो । ( विरू-
पाक्षका अपने हाथकी तलवार विजयसिंहको दे देना और एक दूसरे
सैनिककी तलवार स्वयं ले लेना । )

विजय०—अच्छी बात है। मै तयार हूँ।

( दोनोंका लड़ना। विरूपाक्षका घायल होकर गिर पड़ना। )

विरू०—जननी! मैं तुम्हारा उद्धार न कर सका। अब विदा होता हूँ!

[ घबड़ाई हुई कुवेणीका प्रवेश। ]

कुवे०—नाथ, यह क्या! यह क्या!

विजय०—( धीरेसे कुवेणीको हटाकर ) वीरवर विरूपाक्ष, मै समझ गया। तुम्हारी चीज़ मै लौटा दूँगा।

विरू०—कौनसी चीज?

विजय०—जानते हो, मै स्वप्नमें अभी क्या देखता था? मै देखता था कि मै अपनी जन्मभूमिमे हूँ, पास ही मेरे पिताजी खड़े है और पासके दूसरे कमरेकी खुली हुई खिड़कीमे दो आँखे है, जिनमेसे आँसू बह रहे हैं। वीरवर, अब मै इतने दिनोंके बाद तुम्हारी चीज तुम्हे लौटा दूँगा।

विरू०—तो फिर मै भी बड़े सुखसे मरूँगा।

विजय०—वीर, मुझे क्षमा करो। कुवेणी, तुम भी क्षमा करो—और हे परमेश्वर, तू भी क्षमा कर!

विरू०—भारतीय वीर, तुम इतने बड़े महानुभाव हो!

---

## तीसरा दृश्य

[ जगलमे सिंहबाहु और सुमित्र। ]

सिंह०—इस घने जगलका तो कहीं अन्त ही नहीं है।

सुमित्र०—बीच बीचमे केवल दलदल और नदी है।

सिंह०—सुमित्र, जंगली सूअरोंको मारकर खाना, इस खारे जलमें स्नान करना और पेड़के नीचे सो रहना—यह कुछ बुरा नहीं है।

सुमित्र—पिताजी !

सिंह०—रातको चारो ओर आग जलाकर सोते हैं—आगके बाहर जंगली जानवर गरजते है, ऊपर वृक्षोंके पत्ते दीर्घ श्वास लेते हैं, और सबसे बढ़कर हृदयमे असीम क्रन्दन होता है—इन सबके बीच यह देह बिछाकर सो रहते है। इसमे भी, नींद तो आती ही है !

सु०—पिताजी, रातको रह-रहकर मुझे बड़ा डर लगता है आपको नहीं लगता ? जिस समय शेरकी गरज सुनाई पड़ती है—

सिंह०—अरे बेटा, तुम शेरकी गरज सुनकर डरते हो ? सिंह-राशिमे हमारा जन्म हुआ है, सिंह हमारा पिता है, और सिंहको ही मारकर हमारा राज्य हुआ है। जानते हो बेटा !

सु०—यह क्या कहते है पिताजी !

सिंह०—इसी वन-शोभामें हमारा लड़कपन बीता है, जगली पशुओंके राज्यमे हम निडर होकर घूमे हैं, जगली लोगोंके साथ तीर-धनुष लेकर लड़े है। भला हमे डर लगेगा ! यह चेहरा देखते हो ! सिंहकी तरह नही माळूम होता ?

सुमित्र—पिताजी, यह खून काहेका है ?

सिंह०—खून ! भेड़का खून है, शेरने उसे धर दबाया है। खून ! खून ! मै पीऊँगा—मै पीऊँगा।

सुमित्र—पिताजी !

सिंह०—पीऊँगा—खून पीऊँगा।

सुमित्र—पिताजी, मुझे डर लगता है।

सिंह०—जानते हो, शेर और बाघ अपनी सन्तानको खाते हैं ?

सुमि०—पिताजी, सुना है—

सिंह०—इसीसे हमारी भी अपनी सन्तानको खानेकी इच्छा होती है। एक लड़केको तो खा चुके है, तुमको भी—बीच बीचमें सोचते हैं—उसी पेटमें रख लें। आज हमारा—

सुमित्र—आज क्या पिताजी ! आप इस तरह मेरी ओर क्यो देख रहे हैं ?

सिंह०—आज इस घोर जगलमे, इस खूनभरी जमीनपर, इस भयानक एकान्तमे हमारे अन्दरका वह जंगली जानवर फिर जाग उठा है,—आज हमे फिर भूख लगी है। आज हम तुम्हे खायँगे—जरूर खायँगे। लो, तलवार लो, लडो।

सुमित्र०—यह क्या, पिताजी !

सिंह०—पिताजी, पिताजी, मत कहो। जो हमारे अन्दरका मनुष्य है, वह तो पेटके भीतर माथा झुकाए पड़ा है। आज वह पाशव भूख जाग उठी है। बस, वही खून—खून चाहते हैं। तलवार निकालो। मुझसे युद्ध करके मरो भइया ! स्वर्ग मिलेगा। (तलवार उठाना)

सुमित्र—पिताजी, मुझे न मारिए, मुझे न मारिए। (सिंहबाहुके गलेसे लिपट जाता है। सिंहबाहुके हाथसे तलवार गिर पडती है।)

सिंह०—नहीं, नहीं। इस कोमल स्पर्शसे हमारी सारी क्रूरता गलकर पानी हो गई। हममें फिर अनुकम्पा आ गई और मनुष्यत्व जाग उठा। स्नेहका स्पर्श इतना शीतल है !—मनुष्यके भीतर मनुष्यकी इतनी शक्ति है ! आओ बेटा, हमारी गोदमें आओ, हमारे प्राण शीतल हों !

सुमित्र—पिताजी ! मेरे पिताजी !

सिंह०—बस बस, स्नेहसे हमारा मन गल गया। तुम्हारी इन आँखोंके पानीने मेरा सारा पशुत्व बहा दिया।

सुमित्र—यह काहेका शब्द है ?

सिंह०—हॉ, यह डाकू चिल्ला रहे है ! वनमे डाकू लोग भला किस चीजपर डाका डालते होगे ?—फल-मूलोपर ?

सुमित्र—फिर आवाज आई ! अब तो और भी पास आ गए—इसी ओर आ रहे है ।

सिंह०—आने दो ।

[ डाकुओका प्रवेश । ]

पह० डा०—अरे यहॉ तो आदमी है !

दू० डा०—हॉ !

प० डा०—( आगे बढ़कर ) तुम लोग कौन हो ?

सिंह०—तुम लोग कौन हो ?

प० डा०—हम तो डाकू हैं ।

सिंह०—तो खड़े रहो । हम फैसला करेंगे ।

प० डा०—तुम कौन हो ।

सिंह०—हम इस देशके राजा है । जानते हो, डाकुओके लिए क्या दण्ड है ?

दू० डा०—अरे पागल है ।

सिंह०—नही, हम तुम्हे जाने नहीं देगे । हमारे राज्यमे डकैती ! हम तुम लोगोंको दण्ड देगे ।—बेटा सुमित्र, इन लोगोको पकड़ो ।

[ सुमित्र तलवार लेकर डाकुओपर आक्रमण करता है । ]

प० डा०—अरे वाहरे लड़के !

( सुमित्रका लड़कर दो डाकुओको गिरा देना । )

सिह०—शाबास बेटा, शाबास ! जिसका ऐसा लडका हो वह सचमुच राजा है । धन्य बेटा ! जानसे मत मारो । खाली घायल करके छोड दो । कैद कर लो । हम राजा हैं—न्याय-विचार करेंगे ।

( दूसरे डाकुओंके साथ सुमित्रका युद्ध । )

सिंह०—शाबास !

( डाकुओंका सुमित्रको घेर लेना । )

सिंह०—हटके खड़े रहो । युद्ध देखने दो ।

सुमित्र—( घेरेमेंसे ) पिताजी !

सिंह०—लो हम भी आ गए । ( तलवार लेकर डाकुओंके घेरेमे प्रवेश करना । अनेक डाकुओंका घायल होकर गिर पडना । डाकुओंको मारना और हटाते हुए सिंहबाहुका सुमित्रके पास पहुँचना और उसे धरतीपर पड़ा देखकर उसके पास घुटने टेककर बैठ जाना । )

सुमित्र—पिताजी, अब मैं मरा ।

सिंह०—बेटा, तुम तो बहुत घायल हो गए !

प० डा०—इसे भी खतम करो ।

दूस० डा०—अच्छी बात है ।

सुमित्र—पिताजी ! पिताजी ! डाकू आपपर भी वार करना चाहते है । अपने आपको बचाइए ।

सिंह०—तुम तो चले बेटा, अब हम जीकर क्या करेंगे ? बेटा मेरे ! (सिंहबाहुका सुमित्रसे लिपट जाना । डाकुओंका सिंहबाहुपर आक्रमण करना ।)

सिंह०—अच्छा, आओ । जरा देखे कि अब इस सिंह-बाहुओमे कितनी शक्ति है । आओ लड़ो—

सुमित्र—पिताजी ! पिताजी ! सावधान । मैं भी आता हूँ । (तलवारके सहारे उठकर सिंहबाहुकी ओर बढना ।)

पह० डा०—अरे, यह तो फिर उठ खडा हुआ !

दू० डा०—इसे साफ कर दो ।

( दोनोंका सुमित्रको मारनेके लिए तलवार उठाना । )

सुमित्र—पिताजी ! पिताजी !

सिंह०—आए, बेटा !

( सिंहबाहुका दौड़कर आगे बढना, पर पैर फिसल जानेके कारण जमी-
नपर गिर जाना, तलवारका हाथसे छूटकर दूर जा पडना, और
पडे पड़े सुमित्रसे अच्छी तरह लिपट जाना । )

सुमित्र—पिताजीको मत मारो, पिताजीको मत मारो ! पिताजी मुझे छोड़ दीजिए ।

[ डाकुओंका सिंहबाहुको मारनेके लिए तलवार उठाना। इतनेमें भैरवका
आकर जोरसे चिल्लाना—" ठहरो ! " उठी हुई
तलवारोंका उसी दशामें रह जाना। ]

भैरव—सुमित्रकी आवाज नहीं सुनाई पड़ी ?—कौन ? महाराज प्रणाम । मैं हूँ भैरव डाकू !

सुमित्र—भैरव भइया !

भैरव—मुझे भइया कहकर पुकारा है—तो अब डरकी कोई बात नहीं है । भाइयो, तलवारें झुका लो । इन लोगोंको उठा ले चलो ।

---

## चौथा दृश्य

**स्थान**—लंकाका कारागार।

[ बालकके वेशमें लीला। ]

बालक—उस दिन पहले पहल बडे बुरे समयमें बिना सोचे समझे अपने परसे अपना प्रभुत्व खो दिया । अपनी साधनाको कामनासे बिगाड़ डाला । ईश्वरने उसीका यह दण्ड दिया है । तुम्हारी जय हो !—यह क्या ! बगलमें और भी एक कोठड़ी है !—यह कौन ?

[ द्वार खोलकर जुमेलियाका प्रवेश। ]

जुमे०—यह और कौन है ! तुम कौन ?

बा०—यही तो मैं भी सोच रहा हूँ ।

जुमे०—तुम तो औरत हो ! तुम यहाँ कैसे आई ?

वा०—यही तो !

जुमे०—तुम्हे उन्होने कैद किया है ?

वा०—अब तो ऐसा ही मालूम होता है।

जुमे०—और पहले ऐसा नहीं मालूम होता था ?

वा०—पहले किसीने कुछ कहा ही नही था।

जुमे०—पहरेदारने क्या कहा था ?

वा०—उसने आते ही मेरे हाथोमे हथकड़ी पहना दी। मैंने पहले सोचा कि मेरा ब्याह करनेके लिए ले जा रहा है।

जुमे०—तुमने समझा कि ब्याह करनेके लिए ले जा रहा है !—हथकड़ी पहनाकर ?

वा०—क्यो, इसमे आश्चर्यकी कौनसी बात है ! यह भी हथकडी है, वह भी हथकड़ी है। फरक यही है कि यह हथकड़ी तो खुल सकती है, पर वह हथकडी जन्मभर नहीं खुलती।

जुमे०—बहुत ठीक ! तब फिर क्या हुआ ?

वा०—इसके बाद वह मुझे ठीक यहाँ ले आया। यहाँ आकर उसने मुझसे कहा कि अब तुम यहीं रहना। मैंने पूछा कि क्या मेरे और कही रहनेमे कोई हर्ज है ? उसने कहा—हाँ। तब मैने समझा कि मै कैद हूँ।

जुमे०—तब फिर तुम कैदी हो !

वा०—अब तो इस विषयमे मालूम होता है कोई सन्देह नही है !

जुमे०—नहीं।

वा०—चलो, छुट्टी हुई।

जुमे०—क्यो ?

वा०—पहले मुझे अपनी अवस्था जाननेके लिए कुछ फिक्र हुई थी। पर अब वह फिक्र जाती रही।

जुमे०—तुम्हे उन्होने कैद क्यो किया ?

बा०—यह भी तो किसीने अभीतक मुझे नही बतलाया।

जुमे०—क्यों, तुम्हें नहीं मालूम ?

बाल०—नही तो।

जुमे०—क्यो—तुम्हे क्या मालूम होता है ?

बा०—मालूम होता है कि शायद मेरी शकल कुछ खराब है, इसी लिए।

जुमे०—तुम्हारी शकल तो बहुत अच्छी है।

बा०—आपको अच्छी मालूम होती है ?

जुमे०—हॉ, हमे तो अच्छी जान पड़ती है।

बा०—अच्छा, तो जब हमारी इस कैदका अन्त हो जाय, तबका, तुम्हे हमारे यहॉका न्योता रहा।

जुमे०—क्यो ?

बा०—मुझसे जब कोई यह कहता है कि तुम्हारी सूरत बहुत अच्छी है, तब मुझे बड़ा आनन्द होता है। और फिर ऐसी बात सुनकर किसे आनन्द नहीं होता ? इस लिए इस न्योतेमें मेरी कोई तारीफ नहीं है। ज्यो ही यहॉसे मेरा छुटकारा हो, त्यो ही तुम मेरे यहॉ विजितपुर, चली आना। समुद्रके किनारे नीले रगका ति-मजिला मकान है। तुम तो यहॉका सब हाल जानती हो—यह यहॉका कारागार ही है न?

जुमे०—हॉ।

बा०—कारागार तो बहुत अच्छा है। इस द्वीपकी सभी बाते अद्भुत हैं—सभी बाते मायामय है—हॉ, यहॉ खानेको क्या क्या चीजे दी जाती है ?

जुमे०—अच्छी अच्छी चीजें।

वा०—लॅगड़ा आम देते है ? बिना उसके मुझे तो बड़ी तकलीफ होगी। सवेरे उठते ही मुझे पॉच लॅगडे आम चाहिए।

जुमे०—रोज ?

वा०—हॉ रोज—चाहे गरमी हो और चाहे जाड़ा ! मेरी आदत ही कुछ ऐसी पड़ गई है।

जुमे०—जाड़ेमे लॅंगड़ा आम कहॉ मिलेगा ?

वा०—क्या करूॅ ? मैं लाचार हूॅ। मुझे तो चाहिए ही।

जु०—लड़की, तेरा दिमाग खराब हो गया है।

वा०—यह सुनकर मुझे बड़ी खुशी हुई।

जुमे०—खुशी हुई !—क्यो ?

वा०—इससे इतने दिनो बाद यह बात मालूम हुई कि मेरे दिमाग भी है। अगर दिमाग न होता तो खराब कहॉसे होता ?

जुमे०—तुम क्या समझती थीं कि तुम्हारा दिमाग ही नहीं है ?

वा०—हॉ, मेरा तो यही खयाल था।—तुम्हारी सूरत तो बहुत अच्छी है।

जुमे०—तुम्हें अच्छी मालूम होती है ?

वा०—बहुत अच्छी मालूम होती है। तुम्हे तैरना आता है ?

जुमे०—नहीं।

वा०—नहीं ? अच्छा तो मुझसे सीख लेना !

जुमे०—तुम मनुष्य हो ?

वा०—हॉ ! बात तो ऐसी ही है। जान पड़ता है तुम लोग यक्ष हो ?

जुमे०—हॉ, यक्ष है।

वा०—तब तो और भी अच्छी बात है। तुमसे बहुतसी बाते सीखनेको मिलेंगी। तुम लोग हाथसे ही खाते हो ?

जुमे०—हॉ।

बा०—अच्छा करते हो। और सोते भी लम्बे पडकर ही हो?

जुमे०—और नही तो क्या!

बा०—इसी तरह सोना ठीक भी है। स्वप्न भी देखते हो?

जुमे०—हाँ देखते है।

बा०—अब न देखना।—और खाते तो खूब होगे?

जुमे०—क्या?

बा०—यही गन्ना। लंकामे गन्ना खूब होता है। लेकिन सबसे बढ-कर लॅगडा आम होता है जिसे खानेका मुझे अभ्यास हो गया है। यह कारागार तो बहुत अच्छा है!

जुमे०—क्यो?

बा०—यहाँ पानीकी लहरोका शब्द खूब सुनाई पड़ता है।—इस मकानके चारो तरफ पानी है?

जुमे०—हाँ, चारो तरफ पानी है।

बा०—वे सब क्या है?

जुमे०—हवा आनेके झरोखे।

बा०—बहुत ठीक! यह तो आकाश ही दिखाई पड़ता है न?

जुमे०—हाँ।

बा०—मालूम होता है कि यह जानेका रास्ता है?

जुमे०—हाँ।

बा०—और मालूम होता है कि ये लोग पहरेदार है?

जुमे०—हाँ।

बा०—इन्तजाम तो बहुत अच्छा है। तुम यहाँ अचानक कैसे आ गई?

जुमे०—हमारी महारानी आती है।

बा०—वे कहाँ है?

जुमे०—यह क्या आ रही है।—अच्छा तो मै अब जाती हूँ। (प्रस्थान।)

[ कुवेणीका प्रवेश। ]

ली०—ये महारानी आ गई!

कुवे०—कैसे आश्चर्यकी बात है! यह क्षुद्र, क्षीण, सामान्य जीव! इसके लिए—लड़की, तू मंत्र जानती है?

ली०—श्रीमती!

कुवे०—बतला, तूने किस मंत्रके बलसे विजयको अपने वशमे किया है?

ली०—वशमे किया है?

कुवे०—बोल अधम जादूगरनी, नहीं तो—यह छुरी देखती है?

ली०—महारानी, मेरी समझमे तो कुछ भी नहीं आता।

कुवे०—ढोंग मत रचो। तुम सब जानती हो। जो कुछ मै पूछती हूँ, सब सच सच बतला दो।

ली०—पूछिए।

कुवे०—तुम विजयसिंहसे प्रेम करती हो?

ली०—आपने तो सब कुछ अपनी आँखोसे देख लिया है। तब फिर पूछती क्यो है?

कुवे०—विजयसिंह तुमसे प्रेम करते है?

ली०—कौन कहता है?

कुवे०—तुम नही जानती?

ली०—मै तो नहीं जानती। लेकिन,—नही, यह हो नही सकता। वे तो यह भी नही जानते कि मै स्त्री हूँ।

कुवे०—झूठी कहींकी!

ली०—श्रीमती! मैंने स्वयं हाथमे हाथ देकर आप लोगोका विवा
कराया है। मैंने अपने गलेका कौस्तुभ रत्न स्वयं उतार कर आप
गलेमे पहना दिया है। अब आप और क्या चाहती हैं? जिस सम
आप लोग क्रीडा-कौतुक करते तथा आनन्दसे हँसते बोलते थे औ
जिस समय मेरे शरीरका खून उबलता था, उस समय भी मैं हँसत
थी। आप लोगोका मिलन-सम्भोग मैंने खड़े खड़े देखा है—उ
देखकर मै चक्कर खाकर गिर नही पड़ी हूँ। अब आप और क
चाहती है?

कुवे०—मैं और क्या चाहती हूँ? मैं अपने विजयसिंहको चाहती हूँ

ली०—वे तो आपको मिल गए है।

कुवे०—मिल गए हैं! उन्हे मैंने जादू-मंत्रके बलसे मुग्ध कर रक्खा है
मैंने छलसे उनपर अधिकार कर रक्खा है। लेकिन मैंने अभी उन्हें पाया
नहीं है। राक्षसी! उनके हृदयपर तूने अधिकार कर रक्खा है! ऐसी
दशामे मैं खाली प्राणहीन शिथिल आलिंगन लेकर क्या करूँ? वे तेरे
है, मेरे नहीं।

ली०—महारानी, मै सत्य कहती हूँ, भगवान् साक्षी है, उन्हे अब-
तक यह भी नहीं मालूम कि मै स्त्री हूँ।

कुवे०—छद्मवेशिनी वेश्या! फिर झूठ बोलती है?

ली०—( बहुत गम्भीरतासे ) महारानी, मै उनकी वेश्या नहीं हूँ।

कुवे०—तब कौन हो?

ली०—मैं कुल-वधू हूँ।

कुवे०—तुम उनकी स्त्री हो?

ली०—हाँ, मैं उनकी स्त्री हूँ।

कुवे०—तब क्या तुम विजयसिंहके साथ—

ली०—मै उनके साथ भाग आई हूँ।

कुवे०—तुम उनकी प्रेमिका हो ?

ली०—इससे भी कुछ बढ़कर।

कुवे०—बढ़कर ?

ली०—हाँ, मै उनकी स्त्री हूँ। मै उनकी तनख्वाहदार नौकर हूँ! मैं क्या उन्हे कभी छोड सकती हूँ ?

कुवे०—( बगले झाँककर ) झूठ बोलती है।

ली०—रानी, तुम जरा मेरी तरफ तो देखो। क्या मै झूठी मालूम होती हूँ ? यदि मै वेश्या होती तो लांछित, देशसे निर्वासित, पिताकी लात खाए हुए, एक दरिद्र अभागेके साथ दीन और दुखीके भेसमे, इस तरह देस-परदेस घूमती फिरती ? गाड़ी जिस समय ऊपरकी तरफ चढने लगती है उस समय वेश्या उसे पकड़े रहती है और जब नीचेकी तरफ उतरने लगती है तब वह उस परसे छलॉग मारकर अलग हो जाती है। वेश्या केवल सम्पन्नावस्थामे साथ देती है। विपदके समय साथ नहीं देती।

कुवे०—तुम तो उनकी स्त्री हो। तब फिर भला यह कभी हो सकता है कि इस प्रकार भेस बदलनेपर वे तुम्हे न पहचानें ?

ली०—उन्होने अपनी विवाहिता स्त्रीका कभी मुँह भी नहीं देखा।

कुवे०—क्यो ?

ली०—वे स्त्रियोसे यो ही अलग रहते हैं। इसीलिए मैं बालकका वेश धरकर उनके साथ चल पड़ी थी।

कुवे०—इसीलिए तुम कुलवधू होकर भी घर छोड़कर और भेस बनकर उनके साथ देश-परदेश घूम रही हो !

ली०—महारानी, सतीके लिए उसका पति ही घर, पति ही सर्वस्व है। श्रीसीताजी श्रीरामचन्द्रजीके साथ वनमे गई थीं। स्त्रियोको जल्दी मौत नहीं आती, इसी लिए।—नही तो क्या जो स्त्रीको देख भी न सके,

उसीको अपना सर्वस्व और आधार मानकर वह जीवन धारण करे। धिक्कार है।

कुवे०—क्यो जी, तुम मुझसे भी प्रेम करती हो ?

ली०—हॉ, क्यो नही करती !

कुवे०—मुझसे क्यो प्रेम करती हो ?

ली०—जब मेरे पति तुमसे प्रेम करते है, तब भला यह कैसे हो सकता है कि मैं तुमसे प्रेम न करूँ ?

कु०—तब तुम्हे एक काम करना पड़ेगा।

ली०—वह क्या ?

कुवे०—तुम अपने देश लौट जाओ।

ली०—यह क्यो महारानी !

कुवे०—अब तुम विजयसिंहका मुँह न देख सकोगी।

ली०—तब फिर भला मै और क्या देखूँगी ? ससारमें मेरे देखनेके लिए और रह ही क्या जायगा ? क्या मैं वह शत-इन्दु-विनिन्दित म्लान मुख, जिसमे मानो किसीने अमृत भर दिया है, वह योगीकी साधनाका धन, इस विश्व-सौन्दर्य्यका परम सौन्दर्य्य, न देख सकूँगी ? क्या यह कभी हो सकता है ? तुमने भी तो वह मुँह देखा है, क्या तुम अब उसे बिना देखे रह सकती हो ? सच बतलाओ, रह सकती हो ?

कुवे०—इससे तुम्हें क्या मतलब कि मैं रह सकती हूँ या नहीं ? तुम्हे यह काम अवश्य करना होगा।

ली०—नहीं, मुझसे नहीं हो सकेगा।

कुवे०—तुम्हें करना पड़ेगा, नहीं तो—

ली०—तुम मुझे मार डालो।

कुवे०—नहीं, मैं तुम्हारी ऑखे फोड़ दूँगी। प्रतिज्ञा करो—

ली०—लेकिन मै प्रतिज्ञा क्योकर कर सकती हूँ महारानी ! जिस प्रतिज्ञाका पालन मुझसे न हो सके, मै वह प्रतिज्ञा नहीं करूँगी।

कुवे०—नही तो याद रक्खो, मै तुम्हे अन्धी कर दूँगी।

ली०—नही नही, तुम मुझे अन्धी न करो। मेरे सारे अंग तोड़ दो, पर मुझे अन्धी न करो। केवल उनको देखने दो। हे विधाता ! तुम अपने विराट् कारखानेमे मेरे सारे अंग गलाकर उनसे केवल दो आँखें बनाकर तैयार कर दो। मैं अनन्त युगतक जी भरके उन्हे देखा करूँ।

कुवे०—तुम्हींने कहा था न कि देखनेका प्रेम सच्चा प्रेम नही है। प्रेम कुछ चाहता नहीं है, वह देकर ही सुखी होता है। जरा मैं भी देखूँ कि वह प्रेम तुम कर सकती हो या नहीं।

ली०—मैने कहा तो जरूर था, पर मुझसे हो क्यो कर सकता है ? मेरी साधना तो वही है, लेकिन मैं अबला हूँ। मैं दिन-रात ईश्वरसे यही वर माँगती हूँ कि हे दयामय ! मुझे वही प्रेम करना सिखाओ। किन्तु हृदयमे उसके लिए उतना बल नहीं है।

कुवे०—व्यर्थ ही बकवादमे समय नष्ट न करो। प्रतिज्ञा करो।

ली०—मुझसे प्रतिज्ञा न हो सकेगी।

कुवे०—तो फिर क्या यही तुम्हारा पक्का सकल्प है ?

ली०—हाँ, जो काम मुझसे हो ही न सकेगा, वह मै किस तरह करूँगी।

कुवे०—अच्छा, मै देखती हूँ कि वह काम तुमसे हो सकता है या नहीं। जाओ, जलती हुई लोहेकी सलाख ले आओ।

( पहोरवाली स्त्रीका जाना और जलती हुई लोहेकी सलाख लेकर आना। )

कुवे०—अच्छा, तैयार हो जाओ।

ली०—महारानी, मुझे क्षमा करो। मुझे अन्धी न करो। मैने अपना सर्वस्व तुम्हे सौंप दिया है। सिर्फ उसे देखनेके अधिकारसे मुझे वंचित

न करो। मैं और कुछ भी नहीं चाहती। मुझे उनके पैरोंके पास बाँध-कर रख दो। मैं उन्हे केवल देखूँगी! अभी मेरा देखना पूरा नहीं हुआ। मुझे अन्धी न करो।

कुवे०—तुम किससे प्रार्थना कर रही हो? मैं तो बहरी हूँ मुझे कुछ भी सुनाई नहीं पड़ता। तैयार हो जाओ।

ली०—दया करो।

कुवे०—मै दया-माया कुछ भी नहीं जानती। हाँ—

( कुवेणीका लोहेकी सलाखसे लीलाको अन्धी करनेके लिए तैयार होना; इतनेमें विजयसिंहका आ पहुँचना। )

विजय०—ठहर जाओ।

( कुवेणीका रुककर विजयकी ओर देखना। )

विजय०—तुम कौन हो?

कुवे०—मैं तुम्हारी प्रणयिनी।

ली०—मैं तुम्हारी विवाहिता पत्नी।

---

## पाँचवाँ दृश्य

**स्थान**—लका

[ विजित, अनुरोध और उरुवेल। ]

विजित—क्या कहा? भइयाने इस द्वीपको भी छोड देनेकी आज्ञा दी है?

अनु०—जी हाँ।

विजित—बड़े ही विलक्षण आदमी है।

उरु०—उनका कुछ पता ही नहीं लगता। युद्धमे ऐसे दुर्जय वीर।

चौड़ी छाती, चमकता हुआ मुख-मण्डल, दोनों आँखोंसे चिनगारियाँ सी छूटती हैं। पर जहाँ युद्ध समाप्त हुआ, वहाँ फिर वही दीन, संकुचित स्वरूप और मलीन निष्प्रभ मुख।

अनु०—लंकाकी राजकुमारीके साथ विवाह होनेके थोड़े दिनों बादतक तो खूब आनन्द-मंगलमें दिन बिताए। पर इधर कई दिनोंसे फिर वही चिन्तापूर्ण शून्य-दृष्टि। ऐसा जान पड़ता है कि मानो उनका मन अपना शरीर छोड़कर फिर इस समुद्रके उस पार बह गया है। बुलानेपर भी उत्तर नहीं देता।

विजित—मैंने भी लक्ष्य किया है। लो, आ ही तो रहे हैं। अब तुम लोग जाओ।　　　　( अनुरोध और उरुवेलका प्रस्थान। )

[ दूसरी ओरसे विजयका प्रवेश। ]

विजित—भइया, आपने यह द्वीप भी छोड़ देनेकी आज्ञा दे दी ?

विजय०—कौन ?

विजित—मैं हूँ, विजित। आप मुझे पहचानते नही! भइया, आप ऐसे क्यो हो गए है ?

विजय०—कैसे ?

विजित—आपने यह द्वीप छोड़ देनेकी आज्ञा दी है ?

विजय०—हाँ।

विजित—तब तो मालूम होता है कि आप पागल हो गए हैं।

विजय०—( सूखी हँसी हँसकर ) हाँ, मालूम तो ऐसा ही होता है।

विजित—अब यह लंका आपको अच्छी नहीं मालूम होती ?

विजय०—यह भयानक जगह मुझे अच्छी लगेगी! यहाँ नीद आती है, बड़ी नीद आती है। यहाँके लोग मंत्र जानते हैं। भागो, भागो! यहाँसे जल्दी भागो!

विजित—भइया, आपके मनमे कोई एक बड़ा भारी दुःख जाग उठा है ?

विजय०—(सहसा) इस जगहपर ! इस जगहपर ! ( विजितका हाथ अपनी छातीपर रखकर ) ओफ ! दिन रात कोई कर-कर करके काट रहा है। मुझे सुनाई पड़ता है। ( कान झुकाकर ) देखो तो, कितना साफ सुनाई पडता है !

विजित—अब अपने देश लौट चलिए।

विजय०—( सहसा विजितके कन्धेपर हाथ रखकर ) विजित !

विजित—( चौंककर ) क्या ?

विजय०—तुम—तुम सब लोग देश लौट जाओ।

विजित—क्यो ?

विजय०—मुझे लौटकर वहॉ जानेका अधिकार नहीं है। मैं तो देशसे निकाल दिया गया हूँ। मेरे देशके राजाने—मेरे देवताने मुझे परित्याग कर दिया है।

विजित—भइया, पिताजीके सामने भला ऐसा अभिमान शोभा देता है ! चलिए, देश चले।

विजय०—नहीं, मै देश नही जाऊँगा।

विजित—क्यो ?

विजय०—क्यो एक अभागे ज्ञानशून्य पागलके साथ देस-परदेस घूम रहे हो ? अपने देश जाओ, विवाह करो, सुखी बनो।

विजित—यह बात तो आप कई बार कह चुके है।

विजय०—क्यो इस सूखे पंजरके साथ असीम स्नेह करते हुए चिपटे हुए हो ? तुम लोगोंके शरीरमे इसकी हड्डी भी नहीं गड़ती ?—जाओ।

( प्रस्थान। )

[ पागलोंकी तरह जयसेनका प्रवेश। ]

जय०—यह क्या !

विजित—कौन ? जयसेन !

जय०—जल्दी आओ ! जल्दी आओ !

विजित—कहाँ ?

जय०—मेरे साथ ।

विजित—कहाँ ?

जय०—इस जंगलमे । विपत्तिमें पडी हुई एक बेचारी स्त्रीकी रक्षा करो ।

विजित—क्यों, उसे क्या हुआ है ?

जय०—उसे जीती जला रही है ।

विजित—कौन ?

जय०—महारानी ।

विजित—क्यों ?

जय०—माळूम नहीं । पहले चलो, उसे बचाओ । तब फिर सब हाल पूछना ।

विजित—कुमार, तुम ठीक कहते हो । स्त्री और विपत्तिमे पडी हुई ! यही बहुत है ! इसमें और पूछनेकी बात ही कौनसी है !—चलो । ( दोनोंका प्रस्थान । )

[ विजय और सुमित्रका प्रवेश । ]

विजय०—कैसे आश्चर्यकी बात है ! पहले तो मैने सोचा कि क्या मै यह स्वप्न देख रहा हूँ ! बस यहीं बैठो ! तुमसे बातें पूछूँ । बहुतसी बातें पूछनेको हैं ।—पिताजी अच्छी तरह तो है ! क्यों, चुप क्यों हो ? बोलते क्यों नहीं ? तो क्या पिताजी अब इस संसारमें नहीं हैं ? जल्दी बताओ ।

सुमित्र—पिताजी बचे हुए है ।

विजय०—फिर—

सुमित्र—वे राज्यसे निकाल दिए गए है और जंगलमे रहते हैं।

विजय०—यह क्यो ?

सुमित्र—अंगदेशके महाराजने बंगदेश जीत लिया है।

विजय०—हैं !

सुमित्र—यह क्या ! भइया, आप इस तरहसे मत देखिए !

विजय०—नहीं नहीं। अच्छा, विमाताका क्या हाल है ?

सुमित्र—भइया, आप उन्हे क्षमा कर दीजिए।

विजय०—हो नहीं सकता। वे कहाँ है ?

सुमित्र—वे मृत्युके उस पार (आकाशकी ओर दिखलाकर) वहाँ है। उन्हे क्षमा करो।

विजय०—पिताजी तो अच्छी तरह है न ?

सुमित्र—हॉ, अच्छी तरह हैं। भइया मॉको क्षमा कर दीजिए।

विजय०—भइया सुमित्र, मैं देवता नहीं हूँ, मनुष्य हूँ—साधारण मनुष्य हूँ। मनुष्य जो कुछ कर सकता है, वह मै भी कर सकता हूँ। जो काम मनुष्यसे न हो सकेगा, वह मुझसे भी न हो सकेगा। जो विमाता—नहीं भाई, नहीं, मै तुम्हारे चित्तको कष्ट नहीं पहुँचाऊँगा। —हॉ, तो पिताजी कभी मुझे भी याद करते हैं ?

सुमित्र—भइया, आपके जिक्रके सिवा उनके मुँहसे तो और कोई बात ही नहीं निकलती। बस दिनरात 'विजय' 'विजय' करते रहते है। मानो कोई भक्त ईश्वरका नाम जपता हो।

विजय०—क्या कहा ! सच ? क्या वह बात सच है ? कहो, कहो, फिर एक बार यही बात कहो।

सुमित्र—रोते रोते उनकी दोनो ऑखे जाती रही हैं। समुद्रके किनारे एक कुटी बनाकर उसीमे बैठे रहते हैं। दिखाई तो देता ही नहीं, फिर भी नित्य सन्ध्याको समुद्रके किनारे बैठकर टक लगाये देखा

करते हैं। जहाँ कोई आवाज हुई कि चट चिल्ला उठते है—" यह मेरा विजय आ रहा है ! "

विजय०—( पागलोकी तरह ) विजित ! विजित !

सुमित्र—( पकड़कर ) हैं ! यह क्या भइया !

विजय०—छोड़ दो !—विजित, नाव खोल दो ! चलो, देश चलें ! पिताजी ! आता हूँ, मै आता हूँ ! विजित ! विजित ! ( जल्दीसे प्रस्थान । )

## दृश्यान्तर

( विजयके साथी गाते हैं । )

जिस दिन नील जलधिसे तू मा भरतभूमि उत्पन्न हुई,
उस दिन जगमें वर कलरवके सहित भक्ति औ खुशी हुई ।
तेरी धुनिसे हुआ सवेरा जगकी टली अँधेरी रात्रि,
सबने स्तवन किया तब जननी जय जगतारिणि जय जगधात्रि ॥
होकर धन्य धराने गाया, चरण-कमल तव चूमि ।
" जगन्मोहिनी, जगज्जन्मदे, जय मा भारतभूमि " ॥
सद्यःस्नान-वस्त्र गीला है, जलधि-वारि-कण-भीगे बाल,
वदन दीप्त है विमल हँसीसे, मा, तेरा है भाल विशाल ।
नॉच रहे हैं नभमें घिरकर, तारे और दिवाकर चन्द्र,
तेरे पगपर मन्त्र-मुग्धसा अब्धि गरजता घनसा मन्द्र ॥
होकर धन्य धराने गाया, चरण-कमल तव चूमि ।
" जगन्मोहिनी, जगज्जन्मदे, जय मा भारतभूमि ॥ "
जानु-लग्न है सागर-लहरी, तेरे सिर हिम-मुकुट-बहार,
नदियोंका मानों तेरे उर, झूल रहा है मुक्ता-हार ।
कभी तप्त मरु, ऊपरकी तू भीषण छवि दिखलाती है,
कभी विश्वके श्याम शस्यमें हँसती देखी जाती है ।
होकर धन्य धराने गाया चरण-कमल तव चूमि ।
" जगन्मोहिनी, जगज्जन्मदे, जय मा भारतभूमि ॥ "
शून्य गगनमें प्रबल वायु भी निशदिन चलती रहती है,
तेरे पग-रस चूस कोकिला हरदम कलरव करती है ।

नभमें वज्र चलाकर बादल प्रलय-वृष्टिको करता है,
कुसुम-कुञ्ज तेरे चरणोंपर, गन्ध-सृष्टिको करता है।
होकर धन्य धराने गाया चरण-कमल तव चूमि।
" जगन्मोहिनी जगज्जन्मदे, जय मा भारतभूमि ॥ "
तेरा हृदय शान्ति-सागर है, कण्ठ अभयका दाता है,
तेरे करों अन्न पाता जग, मुक्ति पगोंसे पाता है।
तेरे तनय सहें कितने दुख या कितने आनन्द करें,
जगपालिनि, जगतारिणि, जगकी जननी, भारतभूमि अरे।
होकर धन्य धराने गाया, चरण कमल तव चूमि।
" जगन्मोहिनी, जगज्जन्मदे, जय मा भारत-भूमि ॥ "

## छठा दृश्य

[ आग जल रही है। पहरेवालियोसे घिरी हुई लीला ]
और उसके सामने कुवेणी। ]

कुवे०—नहीं जुमेलिया, मै कुछ भी न सुनूँगी। आज मै अपनी ऑखोके सामने विजयकी प्रेमिकाका अन्त्येष्टि-संस्कार करूँगी।

जुमे०—लेकिन श्रीमती, इससे क्या होगा ?

कुवे०—हॉ, होगा तो कुछ भी नही, लेकिन मेरे सुखका ससार भस्म हो गया है। इस लिए आज मै और सब लोगोके घर भी भस्म करके चल दूँगी। क्या मेरा सर्वनाश करके विजय सुखी होगे ? मैं उनका सुख निर्मूल किए देती हूँ।

जुमे०—श्रीमती, मै आपसे बारबार कहती हूँ कि आप ऐसा काम न करें।

कुवे०—क्यो न करूँ ? मेरा और कौन है, तुम्हीं कहो।

जुमे०—लेकिन इससे क्या होगा ?

कुवे०—और सब सुखोकी आशा तो गई। अब मुझे इसीमे सुख मिलेगा।

जुमे०—अब भी आपके लिए एक रास्ता है। लेकिन इससे तो आपका वह रास्ता भी सदाके लिए बन्द हो जायगा।

कुवे०—बन्द हो जाय, सब जल-भुनकर राख हो जाय। जब गया है तब सभी जाय।

जुमे०—लेकिन इससे लाभ क्या होगा ?

कुवे०—लोग क्या लाभ और हानिका ही विचार करके हँसते, रोते, द्वेष करते और क्रुद्ध होते हैं ? विजयसिंह चले जायँगे न ? जायँ। ओह ! लेकिन क्या अच्छा होता यदि मैं उनको रोक सकती ! विजयसिंह जाते है तो जायँ ! लेकिन यदि मेरे भोग्यको यह भोग करना चाहे, तो मैं इसे भोग नहीं करने दूँगी।

जुमे०—लेकिन यह तो बिलकुल अन्ध प्रवृत्ति है।

कुवे०—सभी प्रवृत्तियाँ अन्ध होती हैं।—पुरोहितजी, सब ठीक है न !

ता०—हाँ श्रीमती, सब ठीक है।

कुवे०—अच्छा इसे अग्नि-कुण्डमे डाल दीजिए। लेकिन नहीं, जरा पहले एक बार मेरे पास ले जाइए।

[ तापसका लीलाको कुवेणीके पास ले आना। ]

कुवे०—विजयसिंहकी प्रेमिका, जानती हो, तुम्हे इस अग्निकुंडमे जलकर मरना होगा।

ली०—हाँ जानती हूँ।

कुवे०—क्यों, भय लगता है ?

ली०—( व्यंगसे हँसकर ) भय ! जो हिन्दू सती अपने पतिके मृत शरीरको गोदमें लेकर हँसती हुई जलती चितापर चढ़ जाती है, उसे इस अग्निसे भय होगा ? लेकिन हाँ, यह जरा—( हँसकर ) जल्दी हुई।

कुवे०—यह क्या ! तुम हँसती हो ?

ली०—यह तो मेरा स्वभाव है। मैं गँवार स्त्री हूँ। जरा अदब-कायदा नहीं जानती। मुझे क्षमा करना।—अच्छा महारानी, अगर इस समय मैं एक गीत गाऊँ तो कोई हर्ज है?

कुवे०—गीत गाओगी?

ली०—हाँ हाँ! मेरी समझमें तो जिस समय किसीको प्राणदण्ड दिया जाय, उस समय गीत गानेकी प्रथा प्रचलित होनी चाहिए। इससे लाभ यह होगा कि जिसे दण्ड मिलेगा वह गीत सुनता सुनता जरा सुखसे मरेगा। उसकी आत्मा उस गीतकी मूर्च्छनाके साथ आवेगसे, आनन्दसे, काँपती हुई इस नीले आकाशमे मिल जायगी।

कुवे०—इसे मार डालो, नहीं तो यह मुझपर जादू कर देगी।

ली०—नहीं बहन, मै जादू-वादू कुछ भी न करूँगी।

कुवे०—ले जाओ।

ली०—मुझको किसीके ले जानेकी आवश्यकता न होगी, मैं स्वयं जा रही हूँ। अपने पतिके साथ प्रेम करनेका दण्ड मैं सिर झुकाकर ग्रहण कर रही हूँ। मुझे जरा भी दुःख नहीं है—हाँ, यदि मरनेसे पहले एक बार मैं जरा उनका मुँह देख लेती और उन्हें देखते देखते मरती, तो स्वर्ग चली जाती। नहीं तो फिर उनकी तसवीर तो यहाँ है ही। आँखें बन्द करके उसीको देखती देखती मरूँगी।—बहन—

कुवे०—मैं कुछ नहीं सुनना चाहती! यह मुझपर जादू कर देगी! ले जाओ, इसे भस्म कर दो।

ली०—बहन, मैं अभी जाती हूँ। तुम महारानी होनेपर भी मेरी छोटी बहन ही हो। मैं अपने तन, मन और वचनसे ईश्वरसे यही प्रार्थना करती हूँ कि विजयसिंह तुम्हे मिल जायँ। जाओ बहन, तुम्हें सुख मिले—यश मिले।

( कुवेणीका मुँह फेर लेना। लीलाका निर्भय होकर चिताके पास जाना और हाथ जोडकर प्रार्थना करना। )

ली०—हे देवाधिदेव महादेव! यह मै अच्छी तरह जानती हूँ कि मेरे रहते स्वामीका कोई अमंगल नहीं होता; लेकिन आज मै उन्हे छोड़कर जा रही हूँ। मैं अब उन्हे आपके समर्पण किए जाती हूँ। देखना, प्रभु!

( लीलाका गर्वपूर्वक अग्निकुण्डपर चढ़ना। चारों ओरसे जयध्वनि होना। कुवेणीका उसी ओर देखकर चिल्ला उठना–"बचाओ" "बचाओ" इतनेमें विजितका आ पहुँचना और चितामेंसे लीलाको खींचकर बाहर निकालना। )

कुवे०—तुम कौन हो? तुम किसकी आज्ञासे इस स्त्रीकी रक्षा कर रहे हो?

विजित—( छातीपर हाथ रखकर ) इसकी आज्ञासे।

कुवे०—मैंने इसे प्राण-दण्ड दिया है। मैं महारानी हूँ।

विजित—मैं इससे भी बढ़कर हूँ। मैं मनुष्य हूँ!

---

## सातवाँ दृश्य

[ कुवेणी और जुमेलिया। ]

कुवे०—आज मेरी आखिरी रात है! बड़ी प्रार्थना करके–भिक्षा माँगकर–लंकाकी रानी होनेपर भी भिक्षा मॉगकर–मैंने उनसे एक रात माँग ली है। जुमेलिया, ऐसा न हो कि यह रात वृथा चली जाय।

जुमे०—हाय श्रीमती!

कुवे०—नहीं जुमेलिया, तुम इस तरह मेरी तरफ न देखो। तुम भी कहो कि उन्हें जाने न दूँगी। तुम भी कहो कि उन्हे जाने न दूँगी। कहो कि उन्हे पकड़ रक्खूँगी।

जुमे०—महारानी, इस विश्वमें कौन किसको पकड़कर रख सकत है ? कौन कब स्नेहके वशमे हुआ है ? सखी, प्रवृत्ति प्रबल है, स्वार्थ प्रबल है, भावी प्रबल है; केवल स्नेह ही दुर्बल—बहुत ही दुर्बल है।

कुवे०—नही, ये सब बाते मत कहो। तुम आज मेरी सहायक बनो-लंकाका स्वर्ण-भाण्डार खोल दो। स्वर्णसे जो कुछ खरीदा जा सकता है, एक जाति जो त्याग कर सकती है, वह सब उनके पैरोपर रख दो। वे क्या मनुष्य नहीं है ? मैं देखूॅ कि मुझसे हो सकता है या नहीं। सजे सजाए कमरेमें उन्हे ले जाकर रत्नजड़े सिंहासनपर बिठाऊॅगी। वे मनुष्य ही है न ? सब चीजे तैयार रक्खो।—सुरा, संगीत, सुगन्ध और रोशनी! देखूॅ, आज मै अपना काम कर सकती हूॅ या नहीं। जुमेलिया, जाओ

( जुमेलियाका प्रस्थान। )

कुवे०—वे चले जायॅगे! मुझे छोड़कर चले जायॅगे! ऐसा रूप, ऐसा प्रेम, ऐसी शक्ति, ऐसा ऐश्वर्य, ऐसा सम्भोग छोड़कर वे चले जायॅगे! वे ही दुर्जय वीर जो इतने दिनोतक मेरी उॅगलीके इशारेपर बैठते थे, उठते थे, हॅसते थे, रोते थे, क्या वे ही अब—नही मैं उन्हे जाने न दूॅगी—अच्छा, आओ! स्वर्गके नन्दन-कानन! आज मर्त्यलोकमें उतर आओ। चन्द्रमा! अपनी स्निग्धतम ज्योत्स्नामे सारे आकाशको डुबा दो। सोनेकी लंका! आज तू ऐश्वर्यसे जल उठ। और तुम लंकाकी रानी!—रूपकी बिजली चमकाकर इसके ऊपरसे निकल जाओ और फूलोंके हारके समान क्षीण भुजाओंकी जकड़! आज तू मृत्युकी पकडके समान कठिन हो जा। मेरा जादूवाला डण्डा कहॉ है ?—आज मै उन्हे जाने न दूॅगी।

[ लीलाका प्रवेश। ]

कुवे०—लो, यह लड़की भी आ गई। मेरे विजय कहॉ हैं ?

ली०—आ रहे है।

कुवे०—तुम यहॉ क्यो आई ?

लीला—क्यों वहन, क्या तुम्हारे पास मुझे न आना चाहिए ? तुम तो मेरी छोटी वहन हो।

कुवे०—पिशाची! राक्षसी! तूने ही मुझसे मेरे विजयसिंहको छीन लिया है। राक्षसी, उनको मुझे लौटा दे।

ली०—नहीं बहन, उन्हे मैने नही लिया है। तुम्हारे विजय तुम्हारे ही हैं।

कुवे०—झूठी कहींकी—

ली०—नहीं, मैं सच कहती हूँ। जो विजय बालकके साथ प्रेम करते थे, वे बालिकासे घृणा करते है!—रानी, विजयने आज मेरा परित्याग कर दिया है।

कुवे०—सच ?

ली०—केवल इतना ही नही। मेरा यह कपोलोंका जला हुआ चमड़ा देखकर वे डरकर हट गए; और मै मारे लज्जाके पृथ्वीमे गड़ गई!

कुवे०—सच ?

ली०—हॉ बिलकुल सच महारानी! चलो, अच्छा ही हुआ। मेरा प्रेमका मोह दूर हो गया। अग्नि-परीक्षामें मेरी मलिनता जल गई। अव जो कुछ मेरा है, वह सव शिशिरके समान पवित्र और नक्षत्रके समान उज्ज्वल है!

[ जुमेलियाका प्रवेश। ]

कु०—लड़की, यह तुम क्या कह रही हो ?

ली०—इतने दिनोतक मै अपने प्रेमके प्रतिफलकी इच्छा रखती थी, मुझे अपने रूपका अभिमान था, सुखमे तृप्ति नहीं होती थी। लेकिन अब वह बात नहीं रह गई। विजयसिंह मेरे हृदयमे हैं। बाहरके विजयको मैंने तुम्हारे सपुर्द कर दिया। मै एक वार—अन्तिम बार—

विजयसे भेट करके सदाके लिए विदा हो जाऊँगीं। उसके बाद फिर इस संसारमे मुझे कोई न देख सकेगा। ( प्रस्थान )

कुवे०—जुमेलिया, इसकी ये सब बाते कुछ तुम्हारी समझमें भी आई ?

जुमे०—हॉ, मै समझ गई।

कुवे०—क्या समझीं ?

जुमे०—यह लड़की पागल है। आप देखती नहीं थी कि मै मारे भयके पीछे हटती जा रही थी।

कुवे०—क्यों ?

जुमे०—कहीं काट न खाय ! आइए, चलिए। सब सामान तैयार है। ( प्रस्थान )

कुवे०—तब तो इस बालिकाका कोई दोप नही है। स्वदेश ही उन्हें अपनी ओर खींच रहा है। अब यह झगड़ा कुवेणी और बालिकाके बीचका नहीं है। अब तो स्वदेश और स्वर्गका झगड़ा है। लेकिन नहीं—विश्वास नही होता। वह हवा तो नहीं है, पत्थर तो नहीं है, झाड तो नहीं है, आखिर तो रक्त और मास निर्मित मनुष्य ही है, नारी ही है। यह कभी नहीं हो सकता, सब छल है, ठगाई है। मै अपने विजयको इसके हाथमे कभी नहीं दूँगी। देखूँ, यह किस तरह छीनती है। लेकिन इतना अनुनय किस लिए किया जाय? विजय जाते हैं तो जायॅ न। क्या उनके बिना मै जीती न रह सकूँगी ? जायॅ न, इतना झगडा किस लिए ? इस संसारमे जहॉ विजयसिंह नहीं है वहॉ क्या कोई जीता नहीं रहता ? जायँ !—जयसेन अभीतक क्यों नहीं आए ? उन्हें बुलानेके लिए किसीको भेजा था न ?

जुमे०—लीजिए, कुमार आ रहे है।

[ जयसेनका प्रवेश । ]

कुवे०—जयसेन, तुम मुझसे प्रेम करते हो ?

जय०—कुवेणी, क्या तुम नहीं जानतीं कि—

कुवे०—इतनी धीमी आवाज ! यह क्या ! तुम्हारी तो यह ठठरी ही ठठरी रह गई है !

जय०—कुवेणी, तुम्हींने मेरी यह दशा की है ।

कुवे०—मैंने बड़ा अन्याय किया, अब मैं तुम्हें अपना हृदयेश्वर बनाऊँगी ।

जय०—कुवेणी, व्यर्थ ही व्यंग-वचन क्यो कहती हो ?

कुवे०—नहीं जयसेन, मैं सच कहती हूँ । यदि मै तुम्हें अपना हृदयेश्वर बनाती, तो एक प्रकार सुखसे ही जीवन बीत जाता । इस शान्त हृदयके स्वच्छ जलको छोड़कर मैंने अकूल समुद्रमे अपनी नाव क्यो डाल दी ?

जय०—कुवेणी, यदि तुम मुझसे प्रेम करो—तो मैं तुम्हारा खरीदा हुआ गुलाम बनकर रहूँगा ।

कुवे०—इस राजत्वको छोड़कर मैं दूसरेके द्वारपर भीख माँगने गई थी ! मुझे धिक्कार है ! जयसेन, मै तुमसे प्रेम करूँगी । नही कर सकूँगी ?—क्यो नहीं कर सकूँगी ?

जय०—नहीं, तुम मुझसे जरूर प्रेम कर सकोगी । हमारा तुम्हारा बचपनका साथ है । हम लोग एक ही जातिके—

कुवे०—लेकिन प्रेममे न जाने यह कौनसी विलक्षणता है कि वह समतल उपत्यकामे विचरण नहीं करना चाहता—वह पहाडकी चोटी-परसे कूद पड़ना चाहता है ।

जय०—कुवेणी !

कुवे०—नहीं, मैं तुम्हारे साथ प्रेम कर सकूँगी । जयसेन, मै तुम्हारे साथ प्रेम करूँगी । तुम्हे लंकाके सिंहासनपर बिठाऊँगी । जायँ, विजय-

सिंह अपने देश चले जायँ। कौन विजय? कहाँके विजय? उन्‍
कौन चाहता है? आओ जयसेन!

जय०—कुवेणी, मै तुम्हे बहुत चाहता हूँ। ( चुम्बन करन
चाहता है। )

कुवे०—कहाँ! स्वरमे मादकता कहाँ है! स्पर्शसे रोमाच कह
होता है! निश्वासमे नन्दन-सौरभका अनुभव तो नही होता!—ले
ये विजयसिंह आ रहे है। मेरे प्रियतम आ रहे है। कैसी तीक्ष्ण दृ
है! कैसी गम्भीर मूर्ति है!

[ विजयसिंहका प्रवेश। ]

विजय०—कुवेणी कहाँ है?—

कुवे०—कैसा मधुर स्वर है! मै यहाँ हूँ यहाँ। नहीं, मुझसे
हो सकेगा। जयसेन, जाओ। अभी चले जाओ। नहीं तो मैं तुम
शायद घृणा करने लगूँगी। मै यहाँ हूँ यहाँ!—आओ, प्यारे, आओ
( विजयसिंहको हाथ पकड़कर ले जाती है। )

जय०—यहाँ तक! कुवेणी! मै तुम्हारी हत्या करूँगा।

---

## आठवाँ दृश्य

[ खूब सजा सजाया कमरा। रोशनी हो रही है।
नाचनेवालियाँ नाचती और गाती हैं। ]

आओ पिया प्यारे मैं मदवा पिलाऊँ।
आके निवास करो मेरे हियमें, आज तोरे मगमें मैं नैना बिछाऊँ।
आओ विराजो कनक-सिंहासन, रतन-जड़ी तुमपै चँवरें ढुलाऊँ।
सरस, सुगंधित, कोमल, सुखकर, सीतल मलय समीर बहाऊँ।
नन्दन-काननको सुख लूटो, वीणा, मुरली, मृदंग सुनाऊँ।
कोकिल-कंठ मनोहर तानें, सप्त सुरनकी उपज सुनाऊँ।
प्रेम-सुधा तोरे तन-मन भर दूँ, अंग अंगमें अनंग जगाऊँ॥ आओ०॥

[ सहचरियोंके साथ कुवेणीका और सहचरोंके साथ विजयका प्रवेश । ]

विजय०—हैं ! यह तो बिलकुल स्वर्ग है ।

कुवे०—नाथ, तुमने कभी स्वर्ग देखा है ?

विजय०—नहीं ।

कुवे०—मैंने तो देखा है ।

विजय०— कहाँ ?

कुवे०—( विजयके गलेसे लिपटकर ) यही मेरा स्वर्ग है । हैं ! नाथ, तुम मुँह क्यों फेरते हो ? धीरे धीरे इस भुज-पाशसे अपने आपको छुड़ा क्यो रहे हो ? प्यारे, मैं तुम्हे जाने नहीं दूँगी ।

विजय०—कुवेणी, आँधीकी गतिको कौन रोक सकता है ? कुवेणी, आज तुम मुझे विदा कर दो ।

कुवे०—आश्चर्य ! पुरुष भी कैसे होते है ! तुम अनायास ही हँसते हुए उदासीन भावसे एक स्त्रीको प्राण-दण्डकी आज्ञा दे देते हो ! इसके बाद तुम्हें भोजन भी रुचता है ? नींद भी आती है ? ( स्वर काँपने लगता है । )

विजय०—कुवेणी, तुम नाराज मत हो ।

कुवे०—नहीं । सहेलियो, तुम्हारे प्रभु देश लौटे जा रहे है । नाचो, गाओ, उत्सव करो—

विजय०—कुवेणी, तुम देवी हो । इसीलिए आज तुमने मेरे आनन्दमे योग देनेके विचारसे इस महोत्सवका प्रबन्ध किया है ।

कुवे०—लेकिन यह प्रबन्ध लंकेश्वरके लिए उपयुक्त नहीं है । ऐसे आनन्दके दिन—( हाथोसे मुँह छिपा लेती है । )

विजय०—कुवेणी, यह क्या ?

कुवे०—कुछ नहीं—सहेलियो, नाचो—गाओ । तुम्हारे प्रभु कल तुम लोगोंको छोड़कर चले जायँगे । फिर इस जन्ममे तुम लोग उन्हे

देख न सकोगी। अनेक वार तुम लोगोंने इनका मनोरंजन किया है। आज अन्तिम रात है। आज हम लोगोंकी अन्तिम रात है।

विजय०—है! कुवेणी, तुम रोती हो?

कुवे०—नहीं, आज अन्तिम रात है! आज मैं गाऊँगी—नाचूँगी।

विजय०—गाओ—गाओ। कल मैं अपने देश चला जाऊँगा। इस लिए खूब उत्सव करो!

( नाच-गान होता है। )

कुवे०—देखो! देखो नाथ!

( अचानक नाचनेवालियोंके भेसका परिवर्तन हो जाता है। )

विजय०—वाह! क्या खूब! ( शराब पीना )

( नाच जारी रहता है। )

विजित—भइया, अब आप अधिक शराब न पीएँ।

विजय०—विजित, यह तुम क्या कहते हो? आज बड़ा भारी उत्सव है। पिताजी मेरे लिए रोए हैं। आज बड़ा भारी उत्सव है। कल सवेरे हम लोगोंका जहाज स्वदेशकी तरफ रवाना होगा। नाचो, गाओ। ( शराब पीना। )

विजित—( विजयका हाथ पकड़कर ) अब आप शराब न पीजिए।

विजय०—विजित, मजा मत बिगाड़ो। नाचो—गाओ!—

( खूब नाच-गाना होता है। कुवेणी एक विलक्षण प्रकारका नाच नाचती हुई विजयके सिरपर जादूका डण्डा घुमाने लगती है। )

विजय०—प्यारी, तुम भी कितनी सुन्दर हो! प्रेयसी! यह तुमने कैसा मायाका राज्य मेरे सामने उपस्थित कर दिया है! यह तो स्वर्ग है! और तुम क्या इन्द्राणी हो? कुवेणी, बस करो। यह शराब बहुत तेज है। अब बरदाश्त नहीं होती। ( शराब पीना चाहते हैं। )

विजित—( हाथ पकड़कर ) अब मैं आपको शराब नहीं पीने दूँगा।

विजय०—विजित, तुम हट जाओ ।

कुवे०—पहरेवालियो, इन्हे हटा दो ।

विजित—मैं यहॉसे नही जाऊँगा ।

कुवे०—इन्हे हटा दो । हमारे राजाकी आज्ञा है, इन्हे हटा दो ।

( एक पहरेवाली विजितका हाथ पकडती है । )

पहरे०—राजाकी आज्ञा—

विजित—मैं वह आज्ञा शिरोधार्य्य करता हूँ । ( सिर झुकाकर प्रस्थान । )

विजय०—कुवेणी, तुम कहॉ हो ?

कुवे०—नाथ, मैं तो यही तुम्हारे पास हूँ । जुमेलिया—( इशारा करती है । )

( नाचनेवालियॉ चली जाती हैं । दीपक बुझा दिए जाते हैं । )

विजय०—कुवेणी !

कुवे०—नाथ !

विजय०—मैं कहाँ हूँ ? स्वर्गमे या मर्त्यमें ?

कुवे०—न तो यह स्वर्ग है और न मर्त्य । यह तो सोनेकी लंका है । ( जादूका डंडा घुमाती है । )

विजय०—कुवेणी ! प्यारी ! तुम कितनी सुन्दरी हो !

कुवे०—नाथ, याद रक्खो, कल सवेरे तुम्हे अपने देश जाना है ।

विजय०—देश कहॉ—

कुवे०—कहो कि हम देश नहीं जायँगे । प्रतिज्ञा करो ।

विजय०—कुवेणी, तुम्हीं मेरा देश हो । तुम्ही मेरी—

कुवे०—प्रतिज्ञा करो । भारतीय वीरोकी प्रतिज्ञा भंग नहीं होती । प्रतिज्ञा करो कि तुम मुझे त्याग न करोगे ।

विजय०—कुवेणी, मै तुम्हे त्याग करूँगा ? किसके लिए ?

कुवे०—अब तो लौटकर देश नहीं जाओगे ?

( जयसेनका जल्दीसे आना और एक तेज छुरीसे विजयको मारनेके लिए झपटना; इतनेमें बिजलीकी तरह झपटकर लीलाका बीचमें आपहुँचना और उस छुरीको अपने कलेजेपर रोककर गिर पडना । )

विजय०—तुम कौन हो ?

कुवे०—हैं लड़की ! यह तूने क्या किया ! पहरेदार !

[ पहरेवालोंका आना । ]

कु०—( जयसेनको दिखलाकर ) इसे कैद करो ।

( पहरेवालोंका जयसेनको कैद करना । कुवेणीका लीलाकी सेवा करनेको उद्यत होना । )

विजय०—है ! यह तो खून है !

ली०—नहीं, मेरी सेवाकी कोई आवश्यकता नहीं । मै इसी मृत्युके लिए प्रार्थना करती थी ।

विजय०—हैं ! क्या यह बालक नहीं है ? यह भेस कैसा है ?

कुवे०—यह बालक नहीं है । यह तुम्हारी स्त्री है ।

[ विजय उठकर इस प्रकार खड़े हो जाते हैं कि मानो उनपर वज्रपात हुआ हो ।]

ली०—प्यारे, जब तुम मुझे बालक समझते थे, तब तो मुझसे प्रेम करते थे । अब स्त्री समझकर मुझसे घृणा मत करो ।

विजय०—यह क्या स्वप्न है ! ( खम्भा पकड़कर खड़े हो जाना । )

कु०—बहन, तुमने ऐसा क्यों किया ?

ली०—इस लिए कि मैं प्रेम करती थी । नाथ ! ( पैर पकड़कर ) मैं तुम्हारा हृदय नही चाहती । वह हृदय कुवेणीको ही दो । मुझे अपने चरण दो । ( हाथ बढ़ाना ) अब मैं बड़े सुखसे मरूँगी ।

---

## नवाँ दृश्य

**स्थान**—समुद्रका किनारा।

[ सिंहवाहु और सुरमा। ]

सिंह०—क्यों ? विजय तो अभीतक नहीं आए !

सुर०—हाँ पिताजी, अभीतक कहाँ आए !

सिंह०—लेकिन आवेगे। आज ही आवेगे। हमने स्वप्नमें देखा है कि वे आवेगे। जरूर आवेगे।

सुर०—स्वप्न भी कभी सच्चा होता है ?

सिंह०—हाँ, कभी कभी होता है। इतने दिनोतक, इतने महीनों तक, इतने वर्षोंतक इसी समुद्रके किनारे वैठकर हमने उनका आसरा देखा है। आजतक तो हमने कभी स्वप्नमे नहीं देखा कि विजय आए है। तब कल रातको हमने स्वप्न क्यों देखा ? वे जरूर आवेंगे।

( सुरमा चुप रह जाती है। )

सिंह०—जानती हो कि हमने क्या स्वप्न देखा है ?

सुर०—हाँ, सुना है।

सिंह०—नहीं, फिर सुनो। स्वप्नमें देखा है कि विजय आए हैं। उन्होने वही सुन्दर हँसी हँसकर उसी जलद-गम्भीर स्वरमे कहा—"पिताजी मै आ गया।" इतना कहकर वे हमारा पैर पकड़नेके लिए आगे बढ़े—सुरमा, ठीक उसी दिनकी तरह पैर पकडनेके लिए। हमने अपने दोनों पैर पीछेकी ओर हटा लिए और हाथ बढ़ाकर उन्हे पकड़ना चाहा। इतनेमें ही पैर फिसल गए और हम गिर पड़े। इसके बाद विजयने फिर पुकारा—"पिताजी!"—फिर क्या हुआ, सो याद नहीं है। लेकिन सुरमा, वतला सकती हो कि हम गिर क्यों पड़े ?

सुर०—यह सब तो स्वप्नकी वात है।

सिंह०—स्वप्न ! बेटी हमने इतना स्पष्ट और प्रत्यक्षके समान स्वप्न अपने जीवनमे कभी नहीं देखा। इतना प्रत्यक्ष—समुद्र गरजता है। क्या आँधी आती है ?

सुर०—हाँ, पिताजी !

सिंह०—बेटी !

सुर०—पिताजी !

सिंह०—समुद्र ठीक उसी तरह नीला, स्वच्छ और असीम है? ठीक उसी तरह ?

सुर०—हॉ, ठीक उसी तरह !

सिंह०—हाय ! हम अन्धे हो गए !—पहाड़, नदी, वन, समुद्र, आकाश, नक्षत्र सभी हमारे लिए एकसे है ! हम अन्धे हैं ! सुरमा !

सुर०—पिताजी !

सिंह०—हम आज ही ऐसे अन्धे नहीं हुए हैं। हम सदासे ऐसे ही अन्धे हैं। जब ऑखे थी तब भी ऐसे ही अन्धे थे । पहले वासनासे अन्धे थे, क्रोधसे अन्धे थे, मदसे अन्धे थे, अब शोकसे अन्धे हैं। हमारे समान दुखी और कौन है ? बेटी, तुम बोलती क्यों नहीं ?

सुर०—मैं क्या कहूँ पिताजी !

सिंह०—हमने राज्य खो दिया। लेकिन यदि यह साम्राज्य—हमारा यह पुत्र—रहता, तो उसका हमें दुःख न होता। लेकिन आज हम भिखारी हो रहे है। कुछ नहीं—कोई नही है।

सुर०—पिताजी, मैं तो हूँ।

सिंह०—(उसे धीरेसे हटाकर) वह हमारा वीरपुत्र, उसने हमारा—केवल स्नेह चाहा था—धन नहीं चाहा था, रत्न नही चाहा था, राज्य नहीं चाहा था, केवल स्नेह चाहा था। लेकिन वह भी हमने नहीं दिया। स्नेह न देकर उसके बदलेमे, उस अंजलिमे हमने राख दे दी थी। पुत्रके

उस करुण, कातर चरण-ग्रहणको लात मारी थी ! (रोकर) लात मारी थी !

सुर०—पिताजी, अब व्यर्थ रोनेसे क्या होगा ?

सिंह०—सच कहती हो। पहले पेड़की जड़ काटकर फिर जल सींचनेसे क्या होगा ?—सुरमा !

सुर०—पिताजी !

सिंह०—सूर्य्य अभी अस्त नहीं हुआ ?

सुर०—नहीं।

सिंह०—हमारा राज्य चला गया। यदि हमारा वीरपुत्र रहता, तो राज्य न जाता। सुरमा, तुम जवाव क्यों नही देतीं ? तुम इतना कम बोलती हो ?

सुर०—पिताजी, मै कौनसी बात कहूँ !

सिंह०—हमें ढारस दो। हमे ढारस दो।

सुर०—पिताजी, यदि मेरे प्राण देनेसे भी आपके मनको कुछ शाति मिले, तो मैं अभी अपने प्राण देनेके लिए तैयार हूँ। लेकिन—पिताजी, क्या करूँ !

सिंह०—नही नहीं, तुम अच्छी लड़की हो। हमने तुम्हें डॉटा-डपटा है और फटकारा भी है। लेकिन उसके बदलेमें तुम हमारी अन्धेकी लकड़ी हुई हो। सुरमा, रानीको हमने अन्धा कर दिया और भगवानने हमें अन्धा बना दिया। खूब बदला चुका। क्यो ? कैसा बदला चुका ? सुरमा, क्यो, कैसा बदला चुका ?

सुर०—मैं क्या कहूँ पिताजी !

सिंह०—अच्छा, तुम समझती हो कि विजय आवेगे ? आवेगे न ?—विजय बड़ा ही स्नेहवान् लडका है। सुमित्रसे सब हाल सुनकर वह जरूर आवेगा। वह हमसे बड़ा प्रेम करता है। संसारमें कोई किसी-

से इतना प्रेम नही करता।—ऐसे लड़केको हमने लात मारी थी! ( रोते है। )

सुर०—आप फिर रोते है!

सिंह०—नही, नही—पश्चात्तापके समान दुर्बल और कुछ नहीं है। इससे क्या होगा?—यह किसका शब्द है!

सुर०—समुद्रके गरजनेका। पिताजी, आँधी आ रही है!

सिंह०—साथ ही साथ हमारे हृदयमे भी आँधी आ रही है।—सुरमा विजय कब आवेगा?

सुर०—अभी वे कहाँसे आए जाते है!

सिंह०—नही नही, वह स्नेहशील है, अवश्य आवेगा।

सुर०—लेकिन साथ ही वे बड़े अभिमानी भी हैं।

सिंह०—हॉ, बड़ा अभिमानी है!—जानती हो, जब विजय आवेगा, तब हम क्या करेंगे?

सुर०—क्या करेंगे?

सिंह०—उसे नोच खायँगे! नही नहीं।—उसे ज़ोरसे इस छातीसे लगा लेंगे, जिससे साँस रुक जाय और वह मर जाय। कहेंगे, "ओरे विजय! ले कितना स्नेह लेगा, ले!" ओह!—सुरमा, उस समय हमारा इतना स्नेह कहाँ छुपा हुआ था? कहाँ था? ( बार बार छातीपर हाथ मारना। )

सुर०—( रोकनेकी चेष्टा करती हुई ) पिताजी, आप यह क्या कर रहे है! यह क्या कर रहे हैं!

सिंह०—हॉ, यह हम क्या कर रहे हैं!

सुर०—पिताजी, आँधी आई। चलिए, घर चले।

सिंह०—नही, हम यही खड़े खड़े विजयसिंहकी राह देखेंगे।

सुर०—और राह देखनेसे क्या होगा पिता! रात हो गई। आज भइया नहीं आवेंगे।

सिंह०—वह आवेगा, हमने स्वप्न देखा है।

सुर०—बिजली कड़कती है। चलिए, घर चले।

सिंह०—हम खाली-गोद नहीं जायँगे। विजय आ जायगा, तब जायँगे।

सुर०—वे नहीं आवेंगे।

सिंह०—यदि वह न आवेगा तो हम इसी रेतमें रात बिता देंगे।

सुर०—समुद्रका गम्भीर—गम्भीरतर गर्जन हो रहा है!

सिंह०—हाँ, गम्भीर संगीत हो रहा है।

सुर०—( अचानक ) पिताजी!

सिंह०—क्या?

सुर०—मालूम होता है कि आ रहे हैं।

सिंह०—कहाँ?

सुर०—उस लहरके ऊपर एक नाव दिखाई पड़ती है।—पालके ज़ोरपर तेज़ीसे आ रही है।

सिंह०—कहाँ?

सुर०—वह सामने—

सिंह०—भगवान्! एक बार थोड़ी देरके लिए हमारी दोनो आँखे खोल दो। जी भरकर देख लें। इसके बाद फिर हमें अन्धा कर देना।—

सुर०—पिताजी, यह किसकी आवाज़ सुनाई पड़ती है?

सिंह०—विजयकी। और नही तो इस प्रकार मेघके गरजनेका-सा और किसका शब्द हो सकता है?—देखो, वह गा रहा है, सुनो!

( कुछ दूरपर कोई गाता है। )

सिंह०—अब तो आवाज और भी पास आ गई। विजय! (आनन्दसे नाचते हैं) यही! यही! हमारा विजय है। (झपटकर समुद्रकी ओर दौड़ जाते है। इतनेमे एक लहर आकर उन्हें बहा ले जाती है।)

सुर०—पिताजी! पिताजी! हाय! सर्वनाश हो गया! (मुँह ढँक लेती है) ओह! (बैठ जाती है।)

[ दल-बलसहित विजय, विजित और सुमित्रका प्रवेश। ]

विजय०—विजित, बेचारी लहर क्या करेगी—जब सन्तान आप-ही-आप अपनी माँकी गोदमे कूद पड़े!—यह हमारी जननी है। वह शान्तिमय जननी! माता! माता!—यह कौन है? (सुरमाको झुककर अच्छी तरह देखते हैं।)

सुमित्र—अरे यह तो सुरमा है।

विजय०—हाँ, सुरमा ही तो है। बेहोश है या मर गई?—सुरमा! सुरमा!

सुर०—कौन?—भइया?

विजय०—हाँ, मैं हूँ बहन!

सुर०—(उठकर) हाँ, याद आता है। पिताजी! पिताजी! (समुद्रकी ओर दौड़ती है।)

विजय०—सुरमा, यह क्या करती हो? (हाथ पकड़ लेते हैं।)

सुर०—भइया! भइया! (विजयकी गोदमे मुँह छिपाकर) तुमने इतनी देर क्यो की? पिताजी!—

विजय०—पिताजी कहाँ हैं?

सुर०—इस समुद्रके तलमें। ओह!

---

# पाँचवाँ अंक

## पहला दृश्य

**स्थान**—लंका

[ जयसेन और तापस । ]

जय०—सब तैयार है ?

ता०—हाँ, तैयार है । केरल-राजको भी मैंने इस व्रतमे दीक्षित कर लिया है ।

जय०—लेकिन केरल-राज लंकाके सिंहासनपर तो अधिकार न कर लेंगे ?

ता०—नहीं । कोई विदेशी आकर लंकाका राजा नहीं होगा । लंकाके सिंहासनपर आप ही बैठेंगे ।

जय०—और मेरे बाएँ तरफ कुवेणी—

ता०—युवराज, आप कुवेणीकी आशा छोड़ दे ।

जय०—नहीं तापस, यह नहीं हो सकता । आज जो मै कुवेणीको सिंहासनसे उतारने चला हूँ वह क्रोधसे नहीं, बल्कि ईर्ष्यासे ।

ता०—ईर्ष्यासे ?

जय०—हाँ ईर्ष्यासे । इस कुवेणीको मै बचपनसे प्यार करता हूँ । इसके बदलेमे उसने मेरे साथ सिर्फ लापरवाही की है—और कुछ नहीं । तब भी मैंने उसको प्यार ही किया है । लेकिन उस दिन—उस उत्सवकी रातको—जब उसने विजयसिंहको देखकर मुझसे कहा—' चले जाओ '—उस दिन पहलेपहल मेरे मनमे यह बात आई कि—

ता०—क्या ? युवराज आप चुप क्यों हो गए ?

जय०—मैने सोचा कि मै कुत्तेसे भी अधम हूँ ! मै वहाँसे चला आया । लेकिन एकाएक मुझसे वहाँसे आया भी न गया । मै कोनेमे छिपकर विजयसिंहके साथ उसकी प्रेमभरी बातें सुनने लगा । उस समय मुझे माल्लम होता था कि मानो हजारो बिच्छू मेरे कलेजेपर डंक मार रहे है । इसके वाद मुझसे न रहा गया । मैने पागलोकी तरह झपटकर छुरी चलाई । लेकिन—वह छुरी लगी एक बेचारी ब्राह्मण-कन्याको।

ता०—विजयसिंहकी रक्षा तो मानो कोई दैवी शक्ति करती है ।

जय०—विजयने मुझे कैद कर लिया । लेकिन जब वे चले गए, तव इस कुवेणीने अवज्ञासे हँसकर मुझे छोड़ दिया—मुझे देशसे निकाल दिया। इससे अच्छा तो यह था कि वह मुझे मार डालती । उसने मुझे मार क्यो न डाला ? इतनी अवज्ञा ! इतनी !—अव मै उसे सिंहासनपरसे ही खीचकर अपनी दासी बनाऊँगा । कुवेणी देखे कि—

[ वीरबलका प्रवेश । ]

ता०—लीजिए, केरलराज आगए । हम लोग आपकी ही प्रतीक्षा कर रहे थे । युवराज तो बिलकुल अधीर हो गए थे ।

वीर०—यही लंकाके युवराज है ?

ता०—हाँ, यही युवराज जयसेन है ।

वीर०—युवराज, आप चिन्ता न करे । हम आपकी युवराज पदवी दूर करके आपको लंकाका राजा वनावेंगे । कोई चिन्ताकी वात नहीं है ।

जय०—मै राज्य नहीं चाहता, कुवेणीको चाहता हूँ ।

वीर०—कुवेणी कौन ?

[ एकाएक विशालाक्षका प्रवेश । ]

ता०—आपने कुवेणीका नाम नहीं सुना ? वे लंकाकी रानी है ।

वीर०—ओह ! विजयसिंहकी—( इशारा करते हैं । )

ता०—हाँ महाराज !

वीर०—विजयसिंहने तो नया विवाह किया है।

ता०—किसके साथ ?

वीर०—पाण्डुराजकी कुमारीके साथ। बड़े ठाटवाटसे !

ता०—कुवेणीके साथ उनका ऐसा ही गंभीर प्रेम है !

वीर०—अरे वह बड़ा नीच और पाखण्डी है।

विशा०—सावधान।

वीर०—( चौंककर ) तुम कौन हो ?

विशा०—मैने शत्रुका विवर ढूंढ़ निकाला है। युवराज, आप इस चक्रमे पड़कर मारे जायँगे। आपको यह कुमंत्रणा किसने दी ?

वीर०—तुम कौन हो ?

विशा०—मै विजयसिंहका सेनापति विशालाक्ष हूँ।

वीर०—इसे कैद कर लो।

विशा०—( हँसकर ) मुझे कैद करोगे !

( विशालाक्षका तलवार निकालना, सब लोगोका एक दूसरेका मुँह ताकना, विशालाक्षका धीरे धीरे चला जाना। )

## दूसरा दृश्य

**स्थान**—बंगालके राजमहलका अन्तःपुर

**समय**—सवेरा।

[ विजयसिंह अकेले हैं। ]

विजय०—अबतक भी कुवेणीकी बाते याद आती है। वह अशान्त उद्दण्ड युवती—प्रातःकालके सूर्य्यके समान, पूरे खिले हुए स्थल-पद्मके समान। क्या मैं उसके साथ प्रेम करता हूँ ? अथवा मैं उससे डरता हूँ ? कुछ ठीक समझमे नही आता। जिस दिन मैं वहाँसे चला था उससे

पहलेवाली रातकी बात याद आती है। वह बढ़िया नाच और गाना। कैसी आश्चर्यजनक तैयारी थी! और वह सरला, मुग्धा, नीची निगाहोंवाली बालिका, लज्जावती लताके समान हवाके झोकेसे सिमटी हुई।—दोनोमें कितना अन्तर था!—लो, यह तो गुरुदेव आ रहे हैं।

[ बुद्धदेवके शिष्यका प्रवेश। ]

शिष्य—विजयसिंह, अब तुम तैयार हो?

विजय०—जी हॉ गुरुदेव।

शिष्य—अच्छा विजयसिंह, जाओ, और सिंहलमे इस धर्म्मका प्रचार करो। महाराज, बुद्धदेवने तुमको इसी कामका भार दिया है।

विजय०—जगद्गुरुकी इस आज्ञाको मैं शिरोधार्य्य करता हूॅ।

शिष्य—तुम अशान्त हृदयसे पागलोकी तरह इधर उधर फिरते रहे हो। सागर, वनों और नगरोमे घूमे हो। अब कर्म्म करो, इससे तुम्हे शान्ति मिलेगी।

विजय०—मुझे शान्ति मिलेगी? आप जानते है कि मुझे क्या दु:ख है?

शिष्य—हॉ वत्स, मैं जानता हूॅ। दु:खी लोगोको सान्त्वना देनेके लिए ही यह धर्म है। जो लोग सुखी हैं, विलासमे मस्त हैं, ऐश्वर्यमें डूबे हुए हैं, पुत्र-कन्यारूप सम्पत्तिसे जो सम्पत्तिशाली हैं, जिनके शरीरमें बल, मनमे तेज और हृदयमें उल्लास है, वे लोग धर्म्मकी इच्छा नहीं करते। जो लोग विपन्न और दु:खी हैं, जिन्हें दोनो समय पेटभर भोजन भी नहीं मिलता, संसारमे जिनका कोई नहीं है, अथवा जिनके कुछ लोग थे पर चले गए, जो पीड़ित अथवा निस्तेज हैं, जिनकी ऑखोंसे ऑसुओकी धाराएँ बहती है, उन्हींकी सान्त्वनाके लिए इस धर्मकी सृष्टि हुई है और वे ही लोग धर्म्मका मर्म समझते है।

विजय०—गुरुदेव, आप बहुत ठीक कहते हैं।

शिष्य—एक दिन यह धर्म सारे संसारमे फैल जायगा। क्योकि इस संसारमे बहुतसे लोग दु:खी है। सुखी कितने है ? और फिर सुख कब-तक ठहरता है ? आतिशबाजीकी रोशनी बुझ जाती है, उत्सवकी हँसी थम जाती है, उल्लासका गीत आरम्भ होते ही चारो ओर हाहाकारमे बिखर जाता है। इस संसारमें अन्धकारका राज्य है, शून्यका विस्तार है, मरणका अवसाद है। स्तब्धताके साम्राज्यका कहीं अन्त नही है॥ इन सबके मध्यमे वत्स, यह प्रकाश, यह आशा, यह जीवन कितना है?

विजय०—बहुत ठीक महाराज !

शिष्य—जाओ वत्स, धर्म्मका प्रचार करो, यही तुम्हारा काम है। बुद्ध भगवान्‌के महान् धर्मके प्रथम प्रचारक बंगालके विजयसिंह हैं। इससे बढकर गौरवकी और कौनसी बात हो सकती है ?

विजय०—जो आज्ञा, गुरुदेव। ( प्रणाम करते हैं। )

( शिष्यका आशीर्वाद देकर गाते हुए प्रस्थान। )

विजय०—अच्छा, अब यही काम किया जाय।

[ सुरमा और विजितका प्रवेश। ]

सुर०—भइया, अब आप फिर सिंहलकी ओर जा रहे हैं ?

विजय०—हॉ बहन, बुद्ध भगवान्‌की ऐसी ही आज्ञा है। जहाज भी तैयार है।

विजित—आप मुझे नहीं ले चलेगे ?

विजय०—ले जाना चाहूँ, तो भी कैसे ले जा सकता हूँ ? और अब क्या मै तुम्हे अच्छा लगूँगा ?—क्यों क्या कहते हो विजित! अब तो एक नया मुख देखते देखते सबेरा हो जाया करेगा। अब संसारको कुछ रंजित और गम्भीरतायुक्त देखोगे।

सुर०—अब मैने अपने शून्य जीवनमे एक कर्त्तव्य ढूँढ निकाला

है और वह है एक जनको सुखी करना, एक जनके पैरोंपर अपना भविष्यत् अविश्रान्त धारासे ढोलते रहना—और यदि हो सके तो–

विजय०—क्यो विजित, कुछ सुनते हो ?

विजित—क्या ?

विजय०—यही ! वंशीकी ध्वनिके समान, कान ऊँचे करके सुन रहे हो न !—नई स्त्रीके कण्ठका स्वर बहुत ही मीठा होता है—विशेषतः, उस समय जब कि वह कहती हो कि—“ नाथ ! मै संसारमे सबसे बढ़कर तुम्हींको चाहती हूँ । ”—यद्यपि नाथको छोड़कर संसारमें और किसीको देखा ही नहीं है ।—भई यही तो—

सुर०—आप चाहे इन्हें संग ले जायँ और चाहे न ले जायँ, लेकिन उसे तो ले जा रहे हैं ?

विजय०—किसको ?

सुर०—पाण्ड्य-राजकुमारीको ।

विजय०—नहीं ।

सुर०—यह क्यों ?

विजय०—उसे ले जाकर क्या करूँगा ?

सुर०—क्या करेंगे ! उस सरला, विश्रब्धा किशोरीके साथ इसी लिए विवाह किया था कि उसे यहाँ छोड़कर आप परदेश चले जायँगे ?

विजय०—सुरमा, मैंने उसके साथ विवाह किया था गुरुदेवकी आज्ञासे—सिंहलमें बौद्ध-धर्मके प्रचारके उद्देश्यसे—

सुर०—वह क्यों कर ?

विजय०—गुरुदेवकी आज्ञा है कि मैं लंकाका राजा बनूँ और लंकाके राजा होनेके लिए राज-कन्याके साथ विवाह करना चाहिए।

[ सुमित्रका प्रवेश ]

सुमित्र—भइया, आपने मुझे बुलाया था ?

विजय०—हाँ भाई। मैं तुम्हें कोई स्त्री तो दे नहीं जा सका—वह तो तुम स्वयं देख-सुनकर ले लेना। लेकिन हाँ, उससे भी बढ़कर मूल्य-वान् पदार्थ मैं तुम्हे दिए जाता हूँ। वह पदार्थ राज्य है और उसे स्वयं देख-सुनकर प्राप्त करना जरा कठिन है।—मैं तुम्हे वंग-राज्यका राजा बनाकर जाता हूँ।

सुमित्र—अब आप फिर सिंहलकी ओर जायँगे ?

विजय०—इस बार मै युद्ध करके देश जीतने नहीं, जा रहा हूँ, बल्कि हृदयका राज्य जीतने जा रहा हूँ। मै कुछ लेने नहीं बल्कि देने जा रहा हूँ।

सुमित्र—क्या देने जा रहे हैं ?

विजय०—बौद्धधर्म। सुमित्र, मैंने शत्रुके हाथसे इस देशका उद्धार करके इसे—माताको—तुम्हारे पास रक्खा है, द्वितीय इन्द्रकी तरह, विक्रम और रामचन्द्रकी तरह स्नेहसे इसका शासन करो। और—भइया!

सुमित्र—भइया!

विजय०—हम दोनों ही पिता-माता-हीन हैं। आओ, एक बार चल-नेसे पहले तुम्हे अच्छी तरह गलेसे लगा लूँ। भइया! भइया!

---

## तीसरा दृश्य

**स्थान**—लंका

[ कुवेणी और विशालाक्ष। ]

कुवे०—लंकाकी सेना विद्रोही हो गई है? उसका नायक कौन है?

विशा०—युवराज जयसेन।

कुवे०—और प्रजा ?

विशा०—वह भी इस विद्रोही सेनाके साथ मिल गई है। तरुण तापस मकरन्दने ही सबको उत्तेजित किया है।

कुवे०—विशालाक्ष, यह बात तो स्वप्नमे भी नही हो सकती थी! ( गंभीर स्वरसे ) तुमने मंत्रियोको बुलाया था ?

विशा०—हॉ बुलाया था। वे भी इन शत्रुओके ही साथ मिल गए है। इसी लिए वे लोग नही आए।

कुवे०—आश्चर्य्य ! विशालाक्ष, मैने ऐसा कौनसा अपराध किया है ? जिस समय महाराज विजयसिंह यहॉ थे उस समय ये ही लोग भिखारी बनकर और हाथ फैलाकर मेरी कृपा चाहते थे। सेनापति, तुम भी उन विद्रोहियोके साथ क्यो न मिल गए ?

विशा०—जबतक मेरे शरीरमे लहूकी एक बूँद भी रहेगी, तबतक मै वह लहू महारानीके कामके लिए ही गिराऊँगा।

कुवे०—सिंहलके पक्षमे कितनी सेना होगी ?

विशा०—सौसे कुछ ऊपर होगी।

कुवे०—बस, इन्ही सौ सिपाहियोको लेकर तुम शत्रुके साथ युद्ध करोगे ?

विशा०—अवश्य करूँगा।

कुवे०—इससे लाभ क्या होगा ?

विशा०—इन्ही एकसौ राजभक्त सैनिकोको साथ लेकर मै युद्धमें महारानीके लिए प्राण त्याग करूँगा। इससे बढ़कर और कोई आकांक्षा मेरे मनमे नहीं है।

कुवे०—सेनापति, क्या तुम सच कह रहे हो ?

विशा०—हॉ, इस बातके लिए ईश्वर मेरा साक्षी है।

कुवे०—विशालाक्ष! वीर!—यह मोतियोंका हार लो। कृतज्ञ महारानीकी यही आखिरी निशानी है। लो, सिर झुकाकर इसे ग्रहण करो। लो वीर! लंकाकी महारानीका दान लो। इसे तुच्छ न समझना। ( हार देना ) और अब लंकाका स्वर्ण-भाण्डार खोल दो। उसे लूटकर वे लोग अपने घर चले जायँ।

विशा०—श्रीमती, यह क्यों?

कुवे०—चुप रहो। बोलो मत। नहीं तो मेरा दिल टूट जायगा। अच्छा, अब तुम जाओ।

विशा०—देवी!

कुवे०—( कठोर स्वरसे ) जाओ। अबतक भी मैं रानी हूँ। मेरी आज्ञा मानो। वीरवर, यह वृथा युद्ध क्यों हो! तुम और वे एकसौ सैनिक मेरे पुत्र हैं। तुम लोग मुझे बचानेके लिए क्यो अपने प्राण दोगे? कुछ भी हो, उन्हे भी अपना जीवन प्यारा होगा, वे लोग आज अपनी अपनी स्त्रीके अश्रुपूर्ण नेत्रोंको चुम्बन करके, सन्तानको स्नेहसे अपने गले लगाकर, मुझे बचानेके लिए कम्पित-चित्तसे व्यर्थ युद्ध करने जायँगे।—इसे बचानेके लिए, जिसे कोई आशा नही रह गई, कोई आसक्ति नही रह गई, जिसका भविष्य इसी समुद्रके जलकी तरह श्मशान—उदास और विचित्रताहीन है, रावणकी चिताके समान जिसमें केवल धू धू शब्द सुनाई देता है। जाओ वीर, मेरी सेनाको वापस बुला लो।

विशा०—और तब—

कुवे०—और तब दुर्गका द्वार खोल दो। मै अपने हाथसे अपना सिर काटकर अपनी सेनाको उपहार-स्वरूप दूँगी।

विशा०—और यह लंका?

कुवे०—रसातलमें जाय!

विशा०—सम्राज्ञी !

कुबे०—तुम भी मेरी बात नहीं मानते !—जाओ, अब मैं सोऊँगी।

( विशालाक्षका प्रस्थान )

कुबे०—( थोड़ी देरतक समुद्रकी ओर देखकर ) इसी समुद्रपर हम दोनोंकी भेट हुई थी !—इसी समुद्रपर ! लेकिन नहीं, फिर यह क्यों ? सब जाता है, पर स्मृति क्यो नहीं जाती ? विधाता ! ( इधर उधर टहलती है । ) यह क्या ! पृथ्वी इतनी स्तब्ध क्यो है ! ऊपर यह मलिन सूर्य्य, और यह आकाश एक नील मरुभूमिकी तरह विस्तृत है ! एक दिन वह था जब कि—फिर वही ध्यान !—जुमेलिया ! जुमेलिया !

[ जुमेलियाका प्रवेश । ]

कुबे०—जुमेलिया, शराब दो और नाचनेवालियोंको बुलाओ । हैं ! तुम मुँह क्यो ताकने लगीं ?

जुमे०—श्रीमती, आप यह क्या कह रही हैं ! सामने युद्ध है और आप यह—

कुबे०—कहाँ है युद्ध ? मैंने कह दिया है कि दुर्गका द्वार खोल दो । लंकाके नए राजा आ रहे है । आज नए राजाकी अच्छी तरह अभ्यर्थना करूँगी, जिसमे उन्हे कुछ शिकायत करनेकी जगह न रह जाय । जुमेलिया, जाओ । है ! यह क्या ! तुम पत्थरकी मूरतकी तरह चुपचाप क्यो खड़ी हो ? जाओ ।—हैं ! क्या आज लंकाकी महारानीको एक ही बातके लिए दो दो बार कहना पड़ेगा ? जाओ ।

( जुमेलियाका प्रस्थान । )

कुबे०—उन्हे भुला दूँगी । बिलकुल भुला दूँगी ।—( छुरी निकालकर और उसे धीरेसे कलेजेपर रखकर) धार है ? लेकिन—यह तो आ गई !—

[ जुमेलिया मदिरा-पात्र लिए हुए आती है । ]

कुवे०—दे, दे,—जल्दी—( पीकर ) नाचनेवालियाँ कहाँ है ?

जुमे०—आ रही है।

[ दूतके साथ विशालाक्षका प्रवेश। ]

कुवे०—क्या खबर है विशालाक्ष !

विशा०—शत्रुकी ओरसे यह दूत आया है।

कुवे०—दुर्गका द्वार खोल दिया ?

विशा०—नहीं श्रीमती, यह दूत—

कुवे०—दूतकी क्या जरूरत है ? मैं दूतकी बात सुननेके लिए यहाँ नहीं बैठी हूँ। जयसेनको निमंत्रित करके ले आओ। मैं उनके आसरे बैठी हूँ।

विशा०—लेकिन श्रीमती, पहले आप यह तो सुन ले कि जयसे-नका क्या वक्तव्य है।

कुवे०—कुछ आवश्यकता नहीं ! अच्छा खैर, कहो दूत, तुम क्या कहना चाहते हो ? जल्दी कहो।

दूत—मैं केवल पत्र-वाहक हूँ। ( पत्र देता है। )

कुवे०—( विशालाक्षके हाथमे पत्र देकर ) विशालाक्ष, इसे पढो। ज़रा जोरसे पढ़ो।

विशा०—( पत्र पढ़ता है )—"विजयके हाथ बिकी हुई दासी ! जिसकी सहायतासे तुमने मेरे पिताकी हत्या करके लकाके प्रासा-दपर अधिकार किया था, वह डाकू विजय अब कहाँ है ? रानी, अब तुम हार मानो। नहीं तो—"

कुवे०—बस, आगे पढ़नेकी जरूरत नही। इस पत्रपर किसके हस्ताक्षर है ?

विशा०—इसके नीचे लिखा है—" महाराज जयसेन । "

कुवे०—( व्यंगसे ) महाराज जयसेन ! दूत, जयसेन महाराज कबसे हुए ?

दूत—मै केवल पत्र-वाहक हूँ ।

कुवे०—अच्छा, जाओ ।

दूत—इस पत्रका उत्तर ?

कुवे०—विशालाक्ष, तुम जाओ और तलवारोकी झनकारसे भेरीके निर्घोषसे इस पत्रका उत्तर दो । मै भी आती हूँ ।

विशा०—जय ! लंकाकी महारानीकी जय !

( दूतके साथ विशालाक्षका प्रस्थान । )

कुवे०—उसकी इतनी मजाल ! जुमेलिया, वही बेचारा मांस-पिण्ड जयसेन—जो बिना घुटने टेके मुझसे बात नहीं करता था—लो, सुनो, रण-सिंगा बज रहा है । जुमेलिया, मैं मरूँगी, युद्धमे लड़कर मरूँगी, पर पराजय स्वीकार न करूँगी । बुलाओ, मेरी हजार पार्श्वरक्षिणियोंको बुलाओ । उन लोगोने तो अभी मुझे नहीं छोड़ा है ! ये सब चीजे उठाकर फेक दो । ( मदिरापात्र तोड़कर फेंक देना ) जुमेलिया !

जुमे०—महारानी !—

कुवे०—मेरा वर्म्म चर्म्म और तलवार ले आओ । और सुनो, जुमेलिया, तुम भी लड़ाईका बाना धारण करो । कर सकोगी ? नहीं, रहने दो । कोई जरूरत नहीं है । तुम क्यो मरने जाओगी ? तुमने तो—( प्रस्थान । )

---

## चौथा दृश्य

**स्थान**—लका

[ जयसेन, तापस, कुवेणी, उत्पलवर्ण, विशालाक्ष और जुमेलिया ]

तापस—अब धीरे धीरे कुछ ज्ञान हो रहा है।

कुवे०—विजय ! विजय ! यह क्या ! मै कहॉ हूॅ ?

उत्प०—श्रीमती, आप अपने महलमे है।

कुवे०—यह क्या ! मेरे हाथ क्यो बॅधे है ! जुमेलिया ! ( उठनेकी चेष्टा करती है। )

जुमे०—श्रीमती, आप स्थिर हो। मै आपको उठा देती हूॅ। ( धीरेसे उठा देना। )

कुवे०—ये लोग कौन है? यह तो जयसेन है! तुम जयसेन हो न ?

विशा०—धीरे धीरे स्मृति लौट रही है।

कुवे०—यह क्या ! मेरे हाथ क्यो बॅधे है ?

जय०—तुम मेरी कैदमे हो।

कुवे०—मै तुम्हारी कैदमे हूॅ ! क्यो जयसेन ?

विशा०—महारानी, हम लोग युद्धमे हार गए।

कुवे०—हार गए ? युद्धमे ? किसके साथ किसका युद्ध हुआ था ?—ओह ! अब याद आया। तो क्या वह सब स्वप्न था ! ( विशालाक्षसे ) सेनापति, अब तक मैं कहॉ थी ?

विशा०—आप रणभूमिमे मूर्च्छित थीं।

कुवे०—तो क्या वह सब स्वप्न था ?

उत्प०—महारानी, क्या स्वप्न था ?

कुवे०—मैंने देखा था कि मै अधेरेमे समुद्रकी एक ऊँची तरंगपर

बैठी हुई हूँ, उसके नीचे नाग अपना फन फैलाए हुए है, और दूरसे एक स्वर्ण किरणने आकर उस सारे दृश्यको उज्ज्वल कर दिया है। समुद्र धमारके तालमे बज उठा, ऊपरसे कोई भूपाली रागिनी गाने लगा—क्या वह सब स्वप्न था ?

उत्प०—उसके बाद क्या हुआ ?

कुवे०—उसके बाद वह स्वर्ण-किरण उसी समुद्रके जलमें डूब गई। फिर घोर अन्धकार छा गया। पीछेसे एक बहुत बड़ी लहरने आकर मुझे धक्का दिया और समुद्रमें गिरा दिया। इसके बाद मेरे विजय भेरी बजाते और पीला निशान उड़ाते हुए उसी समुद्रपरसे आ गए। मैंने हाथ बढ़ाकर पुकारा—विजय !—विजयने भी हाथ बढाया; पर वे मुझे पकड़ न सके। मैं डूब गई। जलमे भी मुझे वह भेरीकी ध्वनि सुनाई पड़ती थी। मैंने जलमेसे ही पुकारा—विजय !—एक बुलबुला उठा। क्या वह सब स्वप्न था ?—यह क्या ? पुरोहितजी, आपने आँखे क्यो बन्द कर लीं ?

उत्प०—विजयसिंह आवेगे।

कुवे०—( खड़ी होकर ) आवेगे ? आवेगे ? कब आवेगे ?

उत्प०—बहुत देर करके महारानी !

कुवे०—चाहे जितनी देर हो हर्ज नही।—पर आवेंगे तो सही ? अब कोई दु:ख नहीं है। मेरे हाथ खोल दो। उसके आते ही मैं खूब कसकर उनके पैर पकड़ लूँगी।—छोड़ूँगी नहीं। पुरोहितजी, मेरे हाथ खोल दीजिए।

जय०—( सिपाहीसे ) हाथ खोल दो।

कुवे०—अब लंकाके महाराज तुम हुए हो ?

जय०—हाँ, हम महाराज हैं।

कुवे०—यह सिंहासन तुम्हारा है, ये नगरनिवासी सब तुम्हारे है, यह लंकाका अगाध धन और रत्न सब तुम्हारा है । यह सब कुछ तुम लो । केवल विजय मेरे रहें, मै—

जय०—सुन्दरी, तुम्हारे विजयसिंह कहॉ है ? जिस पतिने दस-पॉच दिन भोग करके उच्छिष्टकी तरह तुम्हे रास्तेमे छोड़ दिया—

कुवे०—यदि मैने उन्हे पाया था, तो वह देवताका वर था और यदि मैंने उन्हे खो दिया, तो भी देवताका वर ही है । पूर्वजन्मके पुण्यके फलसे मैने उन्हे पाया था और पूर्वजन्मके पापके फलसे उन्हे खो दिया । अब फिर यदि वही वीर, वही राजाधिराज, वही देवता—

जय०—वही देशनिर्वासित, वही मारा मारा फिरनेवाला युवक, वही अधमाधम डाकू—

कुवे०—जयसेन, डाकू तुम हो । बंगालके विजयसिंहने दूसरे रामचन्द्रकी तरह आकर लंकाको जीता था । और तुम छलसे मेरी ही प्रजा और मेरे ही भृत्योके हीन षड्यन्त्रके बलसे लंकापर अधिकार करके इतनी डींग हॉकते हो !

जय०—जानती हो, यदि मैं चाहूँ तो अभी तुम्हारी इस तेज जबानका चलना बन्द कर सकता हूँ ।

कुवे०—जयसेन, मैं जानती हूँ । जिस समय शेर जंजीरोसे बॅधा रहता है, उस समय तुच्छ कुत्ता भी आकर उसे लात मारकर चला जाता है । लेकिन फिर भी शेर सदा शेर ही रहता है और कुत्ता—कुत्ता ही रहता है । जिस समय सूर्य्य अस्त हो जाता है, उस समय गीदड़ आनन्दसे चिल्लाने लगते हैं । महाध्वंसके ऊपर छत्रक ( कुकरमुत्ते ) उगते हैं । जयसेन, इसमें अभिमान करनेकी कोई बात नहीं है ।

जयसेन—मुझे महाराज कहो ।

कुवे०—महाराज !—आश्चर्य ! लंकाके महाराज और जयसेन ! अच्छा जयसेन, जरा तुम एक बार उस सिंहासनपर तो बैठो, जिसपर महाराज विजयसिंह बैठा करते थे। देखूँ तो सही कि तुम कैसे मालूम होते हो ! और मेरे ये कृतघ्न सेवक लोग एक बार चिल्लाकर कहे— "जय ! लंकाके नए महाराज जयसेनकी जय !" देखूँ वह जयनाद सुननेमे कैसा मालूम होता है ! चलो, सिंहासनपर बैठो तो सही।

जय०—इसके लिए तुम्हारी आज्ञाकी आवश्यकता नहीं है।

कुवे०—मै तुम्हारे साथ व्यर्थ बाते नहीं करना चाहती। मैं इस समय तुम्हारी कैदमे हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो।

जय०—कुवेणी, मै तुम्हारा अपमान करनेके लिए यहाँ नहीं आया हूँ। तुम जिस तरह पहले महारानी थी उसी तरह अब भी महारानी रहोगी।

कुवे०—मैं तुम्हारे दिए हुए महारानी पदपर लात मारती हूँ।

जय०—तुम हमारी महारानी होगी।

कुवे०—तुम्हारी महारानी होऊँगी ? क्या मै यह ठीक सुन रही हूँ ? जयसेन, क्या तुम यही कह रहे हो कि तुम महाराज और मैं महारानी ?— यह तो खूब दिल्लगी है ! ये क्षुद्र ऑखे, यह संकीर्ण ललाट, इस वामनके पास और यह कुवेणी बैठेगी !—जयसेन,—तुमने कभी शीशेमे अपनी शकल भी देखी है ?

जय०—इतना घमण्ड !—अच्छा, अब मैं तुम्हारा यह घमण्ड तोड दूँगा। तुम्हारा भोग करके, तुम्हारा सौन्दर्य्य बिगाड़ डालूँगा। और तब उस उच्छिष्टको रास्तेके कीचडमे फेक दूँगा।

कुवे०—जयसेन, यह युद्ध जीतकर तुम्हारा इतना बड़ा हौसला हो गया है कि मुझे अपने सामने देखकर भी तुम इस तरहकी बाते सोचते हो ?

जय०—मैं सिर्फ ऐसी वाते सोच ही नहीं सकता, वाल्कि तुम्हे दिखला सकता हूँ कि—

कुवे०—खबरदार !

जय०—क्यो, तुम क्या करोगी ? यदि मै इसी समय—

कुवे०—देखूँ, तुम मुझे हाथ लगाओ तो सही ।

जय०—तुम क्या करोगी ? वॅधे हुए हाथ सिर्फ भिक्षा मॉगते है । क्या करोगी ? यदि—

कुवे०—मै नही जानती कि क्या करूँगी—मै नही जानती कि क्या होगा ? लेकिन इतना जानती हूँ कि कुछ जरूर होगा । मै इतना अवश्य जानती हूँ कि इतनी वड़ी नियमविरुद्ध वात, शृंखलाका इतना व्यतिक्रम न कभी हुआ—न होगा और न हो सकता है । जयसेन, जरा तुम एक वार मुझे हाथ लगाकर देखो तो सही ।

जय०—लो, देखो ( आगे वढना )

विशा०—( सामने आकर ) खबरदार महाराज !

जय०—( चौंककर ) तुम कौन हो ?

विशा०—यदि आप कुभावसे लकाकी महारानीको हाथ भी लगावेंगे, तो अभी नया युद्ध आरम्भ हो जायगा ।

जय०—तुम पागल हो !

विशा०—पागल नहीं हूँ । फिर कहता हूँ—खवरदार !

जय०—हट जाओ । ( तलवार निकालना )

विशा०—महाराज, मैं हथियारसे नही डरता । फिर कहता हूँ—खबरदार !

जय०—जाओ, मै ऐसे कीड़े-मकोडोको नही मारता ।

विशा०—( घुटने टेककर ) हे आदि-शक्ति माता ! आज मुझे वही शक्ति दो जिससे कैदीकी जंजीरे खुलकर गिर पड़े—अत्याचार

बेचारा काँपने लगे। मात्रा ! एक बार वही शक्ति दो। देखूँ ( जयसेन और कुवेणीके बीचमें आकर ) महाराज, अब मैं आखिरी बार कहता हूँ—खबरदार !

जय०—अच्छा, अगर तुम मरना ही चाहते हो, तो मरो। ( अस्त्राघात। )

विशा०—तो महाराज, अब दैवशक्ति देखिए। ( जयसेनका गला पकड़कर उनके हाथसे तलवार छीन लेना और स्वयं तलवार उठाना ) महाराज, देखिए दैवशक्ति !

जय०—सैनिको, हथियार निकालो।

( सैनिकोंका तलवारे निकालना। )

जुमे०—( अचानक आगे बढकर ) ठहर जाओ सिपाहियो ! तुम लोगोके सेनापति जयसेन आज लंकाके महाराज हुए है। तुम उन्हे सिंहासनपर बैठाकर उनके चारो ओर खड़े होकर जयध्वनि करो। लंकाकी महारानीसे तुम लोगोका क्या मतलब ? इनको छोड़ दो। जरा एक बार देखो—ये कनक-लंकाकी महारानी है। अच्छी तरह देख लो, तुम लोग एक दिन जिसकी आज्ञाका पालन सिर झुकाकर करते थे वही महामहिमा आज धूलमे मिल गई ! क्या तुम लोगोको दया नह आती ? क्या तुम लोग मनुष्य नहीं हो ?

कुवे०—जुमेलिया, इन कृतघ्न पामर सैनिकोसे कृपा-भिक्षा करते तुम्हे लज्जा नही आती ? मै किसीकी कृपा नही चाहती, पर हाँ जय-सेन, एक भिक्षा चाहती हूँ।—वह भिक्षा जिसके लिए किसी स्त्रीको लज्जा नही हो सकती। मेरी जान लो, पर इज्जत मत लो।

जय०—कुवेणी, अब तुम मुक्त हो। तुम जिस तरह पहले लंकाकी महारानी थी, उसी तरह अब भी हो। तुम लंकाकी जननी हो, मेरी भी जननी हो। सैनिको, कहो—" लंकाकी महारानीकी जय ! "